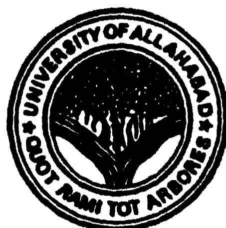
THE CONCEPT OF MAN AND SOCIETY IN CONTEMPORARY INDIAN PHILOSOPHY

''समकालीन भारतीय दर्शन में मनुष्य और समाज की अवधारणा''

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
की
डी०फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध



पर्यवेक्षक
डा० जटाशंकर
रीडर,
दर्शन विभाग,
इलाहाबाद विश्व विद्यालय
इलाहाबाद।

शोधार्थिनी
रेनू जायसवाल
दर्शन विभाग,
इलाहाबाद विश्व विद्यालय
इलाहाबाद।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2002

परम पूजनीया ममतामयी माँ

स्व० श्रीमती उमा देवी

को

श्रद्धा सुमन के रूप में

समर्पित

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

ईश्वर की अनुकम्पा एवं कठोर परिश्रम से मैं शोध-प्रबंध ''समकालीन भारतीय दर्शन में मनुष्य एवं समाज का संबंध'' प्रस्तुत कर रही हूँ। यद्यपि यह विषय अत्यंत बृहद एवं विस्तृत है फिर भी इस शोध प्रबंध द्वारा मैंने इसके विवेचन का यत्किंचित प्रयास किया है।

सर्वप्रथम मैं उस ज्ञान परंपरा का आभार व्यक्त करती हूँ जिसकी वजह से मैं इस तरह की विचार सामग्रियों को एकत्र कर एवं शोध प्रबंध को पूर्ण कर सकी हूँ। तत्पश्चात् मैं अपने पूज्य पिता श्री गनेश प्रसाद केसरवानी को सादर चरण स्पर्श करूँगी, जिनके वात्सल्य की छाया में रहकर मैं इस स्तर तक पहुँच सकी हूँ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के स्नातक कक्षा में प्रवेश लेने के पश्चाच् यद्यपि पारिवारिक वातावरण दार्शनिक अभिरूचि का न होने के कारण, मुझे दर्शनशास्त्र विषय लेने में कुछ असमंजस हो रहा था। फिर भी मैंने दर्शनशास्त्र को उच्च शिक्षा हेतु एक विषय के रूप में ग्रहण किया। एम० ए० करने के बाद शोधकार्य करने की इच्छा बलवती हुयी। डा० जटाशंकर के सुयोग्य निर्देशन में मुझे शोधकार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इन्हीं के कुशल निर्देशन, स्नेह एवं सहयोग के कारण यह ग्रंथ पूर्ण हो सका। अतः श्रद्धेय डा० जटाशंकर की मैं हृदय से आभारी हूँ।

इनके अतिरिक्त दर्शनशास्त्र विभाग के पूज्य गुरुजन स्व० प्रो० संगमलाल पाण्डेय, (पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय), प्रो० जगदीश सहाय श्रीवास्तव (पूर्व विभागाध्यक्ष, इलाहाबाद विश्वविद्यालय), प्रो० एस० के० सेठ, प्रो० राम लाल सिंह, प्रो० देवकीनंदन द्विवेदी, (पूर्व विभागाध्यक्ष, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) प्रो० आर० एस० भटनागर, डा० नरेन्द्र सिंह, डा० मृदुला रवि प्रकाश

(वर्तमान विभागाध्यक्षा, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) डा० हरिशंकर उपाध्याय, डा० गौरी चट्टोपाध्याय, डा० आशा लाल, डा० श्रीकांत मिश्र के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने मुझे इस कार्य हेतु समय-समय पर परामर्श दिया।

दर्शनशास्त्र विभाग के शोधार्थी श्री श्याम मोहन सिंह एवं श्री शिवप्रकाश द्विवेदी (पी०ई०एस०) के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने इस शोध प्रबंध को पूर्ण करने में मेरी मदद की।

अपने पति श्री विजय जायसवाल की मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने इस लक्ष्य तक पहुँचने में मेरी हर संभव मदद की। उनके सक्रिय सहयोग एवं आत्मबल के अभाव में यह कार्य असंभव था। वास्तव में मेरी इस सफलता का सारा श्रेय उन्हीं को जाता है। साथ ही मैं अपनी पुत्री श्रृंग की भी आभारी हूँ जिसने अपनी बालसुलभ चेष्टाओं को कभी भी मेरे मार्ग में बाधक नहीं बनने दिया।

प्रस्तुत शोध प्रबंध की पूर्णता हेतु अनेक पुस्तकालयों एवं संस्थाओं के साथ-साथ जिन पुस्तकों एवं विचारों का इस शोध-प्रबंध में मैने उपयोग किया है, उन सबके प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ, विशेषकर रामकृष्ण मिशन और उनके कर्मचारियों का। प्रस्तुत शोध-प्रबंध के कम्प्यूटराइज्ड टंकण एवं अलंकरण हेतु नितिन प्रिंटर्स के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ एवं शोध-प्रबन्ध में किसी भी प्रकार की कमी एवं त्रुटि हेतु मैं क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

Renu

रेनू जायसवाल

प्रस्तावना :-

समाज दर्शन का अध्ययन करते समय मेरे मन में अनेक बार यह प्रश्न उठता था कि समाज दर्शन की विविध समस्याओं में से यदि मूल समस्या खोजनी हो तो वह कौन सी समस्या होगी ? काफी मंथन के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची कि वह मूल समस्या व्यक्ति और समाज के संबंध की समस्या है। यह समाज दर्शन की मूल समस्या एक तो इसलिये है क्योंकि इस समस्या का समाधान किये बिना समाज दर्शन की अन्य समस्याओं का उत्तर नहीं दिया जा सकता और दूसरे यह इसलिये भी मूल समस्या है क्योंकि इसका निराकरण होते ही शेष समस्याओं का निराकरण आसानी से हो जाता है। इसलिये मैने इस विषय पर शोध करने का मन बनाया और इसे वास्तविकता का रुप दिया।

प्रस्तुत शोध प्रबंध का विषय है ''समकालीन भारतीय दर्शन में व्यक्ति और समाज''। यह विषय स्वंय हमारे से और हमारे उस परिवेश से जुड़ा है जिसमें हम रहते है। मनुष्य और समाज ये दोनों उन दो स्तंभों की तरह है, जिन पर पूरे विश्व का अस्तित्व निर्भर करता है। मनुष्य एवं समाज दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, एवं एक दूसरे से अलग इनके अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि मनुष्य के बिना किसी समाज का निर्माण नहीं हो सकता और समाज से अलग रहना मनुष्य के लिए संभव नहीं।

मनुष्य की अवधारणा के साथ ही समाज की अवधारणा उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य की कल्पना समाज से अलग करके नहीं की जा सकती। अरस्तू ने ठीक ही कहा था कि ''मनुष्य एक सामाजिक जीव है।'' मनुष्य पृथ्वी का एक अनोखा जीव है। जीवों की सम्पूर्ण विशेषताएँ मनुष्य में पायी जाती हैं परंतु एक प्रमुख और नितान्त

भिन्न विशेषता उसकी बौद्धिकता और विवेकशीलता में है जो अन्य किसी जीव में नहीं है। इसलिये मनुष्य को विवेकशील प्राणी कहा जाता है। कामना, वासना, इच्छा प्रेरणा, निद्रा, भूख, भय, प्यास आदि मनुष्य में तथा अन्य जीवों में भी प्राप्त होती है परन्तु विवेक केवल मनुष्य में ही सम्भव है। विवेक का अर्थ है – मनुष्य में निहित ऐसी शक्ति जो सद्-असद् का निर्णय करे। मनुष्य की मूल प्रकृति के आधार पर ही उसके समाज की प्रकृति का निर्धारण होता है। व्यक्ति जो कुछ करता है और जो कुछ कर सकता है दोनों को उसकी मूल प्रकृति से जान सकते हैं। प्राचीन काल से ही दार्शनिकों ने मानव स्वभाव का विश्लेषण किया है। वस्तुतः मनुष्य स्वभाव से न अच्छा है, न बुरा। वातावरण और समाज उसके निर्माण का आधार हैं। मनुष्य में मनुष्यता है, मानवीय गुण हैं। परन्तु मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी होने के साथ-साथ एक नैतिक प्राणी भी है उसकी नैतिकता से ही सिद्ध होता है कि वह एक समाज की स्थापना करना चाहता है।

हमारे इस जीवन दर्शन की सबसे प्रमुख समस्या है — मानव के मूल्य और महत्व का प्रश्न ? किंतु इस विचार प्रक्रिया के दो स्पष्ट पक्ष हैं— मानव केंद्रित और मानव के प्रति उदासीन।

चूंकि मनुष्य या मानव शब्द का तात्पर्य है 'मनुष्य की महत्ता को सृष्टि के मध्य प्रस्थापित कर विशेष रूप से शाश्वत और निरपेक्ष मूल्य प्रदान करना।' क्योंकि मनुष्य का शरीर पाना सौभाग्य की बात मानी जाती है। इसे दुर्लभ और मुक्ति का द्वार तक माना गया है।[1] इस लिये कहा जाता है कि

''नाहि मानुषात् श्रेष्ठतरों हिं किंचित।'' इसी प्रकार ''बड़े भाग मानुष तन पावा'' का भी यही अर्थ है। मानव का मानव मात्र ही होना अपने आपमें एक विशेष

अर्थ रखता है और जब विश्व के धर्म एवं दर्शनों से जोड़ दिया जाता है तो उसका अर्थ एक विशाल रूप ग्रहण कर लेता है। उसका "स्व" व्यष्टि से समष्टि में विलीन हो जाता है। उसके आदर्श नैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं भौतिक जगत से संबंधित हो जाते हैं। जिनके आधार पर युगानुसार मानववादी स्वरूप बदलता रहता है और अपने नये-नये मूल्यों को लेकर पद्धति के रूप में विकसित होता रहता है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी साहित्यकार तथा बुद्धिजीवी **अल्वेयर कामू** के शब्दों में "इस बेहूदी दुनिया का कोई अर्थ नहीं है, किंतु इसमें मनुष्य एक ऐसा है जिसका बहुत बड़ा अर्थ है। मनुष्य एक ऐसी चेतना है जो सारे तत्वों को अर्थ देती है। यह चेतना ही सारे सत्यों की गवाही है।2

भारत में मानव के सर्वोच्च महत्व की अनदेखी कभी भी नहीं की गयी। वेदों के युग से ही मानव सारी चिन्तना का केन्द्र बिंदु रहा है। इसका मुख्य कारण संभवतः यह रहा है कि भारत में दर्शन और धर्म कभी भी पूरी तरह अलग नहीं हुये और धर्म अनिवार्य रूप से मानव केन्द्रित रहा है। भारतीय दर्शन ने अनेक धार्मिक मूल्य स्वीकार किये, किंतु मानव के अर्थ एवं मूल्य का प्रश्न सदैव ही संलग्न रहा।

पश्चिम में, विश्व को बुद्धि और अनुभव के माध्यम से समझने की माँग के फलस्वरूप दर्शन का आरंभ हुआ। थेलीज, अनैक्सीमेनीज, हेराक्लिट्स, पार्मेनाइडीज एम्पीडॉक्लीज तथा अनैक्सागोरस आदि दार्शनिकों के सम्मुख प्रश्न था- विश्व के अन्तिम तत्व का। इसके बाद जब से सोफिस्ट दार्शनिकों तथा सुकरात ने मनुष्य को दर्शन का केन्द्र बनाया, तब ग्रीकदर्शन में एक नया मोड़ आया। पश्चिम में वे पहले दार्शनिक थे जिन्होंने यह स्पष्टतः स्वीकार किया कि 'मनुष्य ही सारे चिन्तन का केन्द्र होना चाहिये।' वास्तव में इन विचारकों के साथ ही जीवन दर्शन सुचारू रूप से आरंभ होता है।

यूरोप में 16वीं-17वीं शती में व्यक्ति की महिमा को प्रतिष्ठित करने का जो प्रयास हुआ उसे 'मानववाद' के नाम से अभिहित किया गया है। **प्रो० एडवर्ड चेने** के अनुसार 'सोलहवीं सदी के बाद से, मानववाद से अभिप्राय: उस दर्शन का रहा है जिसका केन्द्र और प्रमाण दोनों मनुष्य ही है।[3] मानववाद में मानव की गरिमा को प्रतिष्ठित किया गया है। चिन्तन की यह प्रणाली विकसित होती रही और अतिशय वाद-विवादों तथा मत-मतान्तरों के पश्चात् संसार के विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'मानव वस्तु जगत की सर्वश्रेष्ठ कृति है और इस दृश्य जगत के समस्त कार्य-व्यापार व्यक्ति के उन्नयन को केन्द्र मानकर संपन्न किये जाने चाहिये।' इस विचारधारा का आरंभ वस्तुत: पाप और अध:पतन की ईसाई विचारधारा के विरुद्ध प्रतिक्रया स्वरूप 14वीं से लेकर 16वीं शताब्दी (पुर्नजागरण युग) में हुआ। यह धार्मिक कठोरवाद के विरुद्ध व्यक्ति के स्वातन्त्र्य की उद्घोषणा करता है जो मनुष्य के सुख और भौतिक इच्छाओं के परितोष तथा अधिकारिक तथ्य की भावना पर आधारित है।[4]

मध्यवर्गीय मानववाद अपने चरम बिन्दु पर 18 वीं शती के प्रकाश में आया, जिसने मानव अधिकारों के प्राकृतिक सारतत्व को विकसित करने के लिए स्वतंत्रता, समता और भ्रातृत्व का नारा लगाया। भारतीय चिंतन में मानववाद दोनों ही क्षेत्रों (आध्यात्मिक एवं भौतिक) में मानवीय तत्वों को लेकर प्रतिष्ठित हुआ है। वह न तो पूर्णरूप से पश्चिमी विचारकों की भाँति धर्मनिरपेक्ष ही रहा है और न ही पूर्णतया धर्म सापेक्ष। प्रारंभिक भारतीय चिन्तन न तो प्रत्ययवादी था और न अन्तर्दर्शी, वरन् आशावादी और जीवन की महत्ता को स्वीकार करने वाला दर्शन था। इस विचार धारा ने ही जगत के यथार्थ, मनुष्य और ब्रह्माण्ड के बीच संबंध के सत्य तथा मनुष्य को उलझन में डालने वाली सभी समस्याओं के समाधान का अन्वेषण किया। सर्वप्रथम उनके मन में यह भावना जागृत हुयी कि 'क्या मृत्यु पर विजय पायी जा सकती है'?

क्या मृत्यु के बाद भी कोई जीवन हो सकता है? मनुष्य अपने चारो ओर के जगत के किस प्रकार सम्बद्ध है ? ऋग्वेद के कई भागों में ऐसे सूक्त मिलते हैं जो देवताओं के अस्तित्व के बारे में सन्देह से परिपूर्ण है। जैसे, यह प्रसंग आया है कि – "इन्द्र कौन है ? किसने उसे देखा है ? इन्द्र ही नहीं है तो हम किसकी पूजा करें ?"[5]

सत्य यह है कि भारतीय चिन्तन में मानव का महत्व और मूल्य उसके कर्मों पर आधारित थे जो अच्छे से अच्छे कर्मो द्वारा देवता की उपाधि से सुशोभित हो सकता था। किन्तु निरन्तर ज्ञान और तर्क में वृद्धि के फलस्वरूप औपनिषदिक दार्शनिकों ने माना कि इन भौतिक तत्वों के अतिरिक्त कुछ और भी है और वह है – 'प्राण् वायु' जो कि मनुष्यों में आत्मा और ब्रह्माण्ड में ब्रह्म के रूप में जानी जाती थी। किन्तु समय बीतने के साथ ही आत्मा और ब्रह्म एक दूसरे के समरूप समझे जाने लगे। **वृहदारण्यक** उपनिषद में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं — "इस संसार में जो कुछ है वह आत्मा ही है।"

"इ दं ब्रह्म इदं छत्रं इमे लोका: इमे देवा: इमानि भूतानि इदं सर्व यदयमात्मा।"[6]

"पूर्ण मद: पूर्ण मिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते,"[7]

अर्थात् आत्मा पूर्ण है, ब्रह्म भी पूर्ण है। ब्रह्म की पूर्णता से आत्मा की पूर्णता निकालने पर जो कुछ बचता है, वह भी पूर्ण ही है। अत: आत्मा और ब्रहम एक ही है।

इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद में एक ब्राह्मण ने याज्ञवल्क्य से कहा "कृपया मुझे वह ब्रह्म बताइये जो अव्यवहित रूप से विद्यमान है और जिसका सीधा ज्ञान प्राप्त

किया जा सकता है, जो सभी वस्तुओ की आत्मा है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—

''आत्मैव देवताः सर्वा सर्व हयात्मन्यवस्थितम्''।8

अर्थात् यह तुम्हारी आत्मा है। यही सब में विद्यमान है। इसी प्रकार उपनिषदों मे कुछ स्थलों पर कहा गया है कि 'स्वयं मनुष्य ही ब्रह्म है, मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है'।

इसके बाद बादरायण का वेदान्त मानव की पूर्णता की श्रेष्ठतम आंकाक्षाओं की अभिव्यक्ति था। वह सम्पूर्णता और शाश्वतता की, ''मैं'' को ब्रह्म की समग्रता में समन्वित करने की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति था, भले ही वह अवैज्ञानिक रूप में रहा हो जैसा कि **नेहरू जी** ने इंगित किया है- ''संभवतः व्यक्तिगत पूर्णता की नैतिकता पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया था और इस कारण सामाजिक दृष्टिकोण की क्षति हुयी''।9 शंकराचार्य के वेदान्त में निराशावादी और जगत् का निषेध करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है लेकिन रामानुज, मध्व, वल्लभ तथा निम्बार्क ने इसका तीव्र विरोध किया तथा इनकी शिक्षाओं ने भारतीय चितंन में पुनः मनुष्य के महत्व को प्रतिष्ठित किया।

मध्ययुग के उत्तरकाल में प्रगतिशील संतों और दार्शनिकों की शिक्षाओं ने न केवल तत्कालीन परिस्थितियों के विरोधी संघर्षों को उत्प्रेरित किया बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी के नये धार्मिक सुधार आंदोलन के लिये मूलाधार का निर्माण भी किया फलतः मानव क्षमता के प्रति नयी चेतना का उदय हुआ। स्वामी विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ टैगोर, और गाँधी आधुनिक मूल्यों के श्रेष्ठ प्रतिनिधि थे। इन विचारकों पर प्राचीन वेद, उपनिषद और दर्शनों का प्रभाव था, किन्तु वे इसके अतिरिक्त जीवन के यथार्थ सत्य से मुँह नहीं मोड़ते थे। वे अपने दार्शनिक विचारों में सत्य को मनुष्य के प्रत्यक्ष जीवन में

देखते थे। **पी०टी० राजू** ने लिखा है कि, ''दर्शन को सामाजिक रूप मे उपयोगी बनाना चाहिये और हमारे परम्परागत आध्यात्मिक दर्शनों का शक्तिवाद में रूपान्तरण किया जाना चाहिये। इस विचार का कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है दर्शन में गंभीरता से समावेश किया जाना चाहिये।''10

मूलत: भारतीय इतिहास के आरंभ मे ही **मानव चेतना** की एक निश्चित दिशा निर्धारित कर दी गयी थी। अपना अस्तित्व बनाये रखना, आत्मा की निर्मलता को स्थिर रखना ही मानव जीवन का लक्ष्य है। वेदों में मानवीय जीवन के उच्चतम आदर्श की अभिव्यक्ति है। उन्होंने मानवत्व में देवत्व की स्थिति मानी हैं। हिन्दू धर्म में मानव को ''अमृतस्य पुत्रा:'' कहा गया है। ब्राह्मण ग्रंथों एवं आरण्यक ग्रंथों में भी मानव मूल्य की सुदृढ़ प्रतिष्ठा की गयी है और उसे व्यक्ति के समस्त सदाचरणों के स्रोत रूप में माना। इस प्रकार भारतीय दृष्टि से सभी प्राणियों में भगवद्-बुद्धि रखकर उस विराट भगवान को सर्वत्र देखना मानवता का सत्य स्वरूप है।

भारतीय जीवन में धर्म सर्वोपरि है। धर्म का संबंध सत्ता (ईश्वर) से है और उसी सत्ता को प्राप्त करने के लिये या ईश्वर को पाने के लिये ही जीवन के सारे प्रयास, कर्म और व्यवस्थाएँ की गयी हैं। मनुष्य और समाज ईश्वर की सृष्टि हैं मनुष्य को ईश्वर से संयुक्त करने के लिए हमारे शास्त्रों में ऋषियों और मुनियों ने तथा मनु, याज्ञवल्क्य, कौटिल्य आदि समाज व्यवस्थापकों ने समाज के एक ढाँचे का निरूपण किया है। यह वर्णाश्रम व्यवस्था भारतीय जीवन व्यवस्था की मूल धुरी है। समाज और जीवन की व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिये तथा जीवन के लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करने के लिए यही से प्रारंभ करना पड़ता है। ऋग्वेद, गीता तथा मनुस्मृति के अनुसार मनुष्य को चार भागों में बाँटा गया है—

''ब्राह्मणोऽस्य मुखासीद बाहू राजनन्यः कृतः।

ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥''11

अर्थात् ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहू से क्षत्रिय, उदर से वैश्य तथा पाद से शूद्र की उत्पत्ति हुयी है। मनु ने भी मनुस्मृति में बताया है कि ब्रह्मा ने लोकवृद्धि के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमशः मुख, बाहू, जंघा और पद से उत्पन्न किया है।12

इन वर्णो के अलग-अलग कार्य भी निर्धारित किये गये। अपने-अपने कर्मो का पालन करना प्रत्येक वर्ण के लिये आवश्यक माना गया था। जो निम्नवत है—

ब्राह्मण :- सर्वप्रथम उत्पन्न होने के कारण समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि था। विद्वता और ज्ञान के कारण उसे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और शैक्षणिक विशेषाधिकार प्राप्त थे। ब्राह्मण के छः प्रधान कर्म बताये गये हैं- वेद पढ़ना, वेद पढ़ाना, दान देना, दान लेना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना।

क्षत्रिय :- ब्राह्मण के बाद क्षत्रियों का स्थान था। इनका प्रमुख कार्य चर्तुवर्णो की रक्षा करना, साधुओं की रक्षा करना, दुष्टों का दमन, देश और राज्य, समाज की रक्षा करना था।

वैश्य - वैश्य का समाज में तीसरा स्थान था। वैश्य का कर्म कृषि, व्यापार और आर्थिक व्यवस्था करना बताया गया है।

शूद्र- का समाज में सबसे निम्न स्थान था। शूद्र का कार्य द्विज-वर्णो की सेवा था। परंतु मनुस्मृति में काष्ठ-शिल्प, धातु-शिल्प, भांड-शिल्प, चित्रकला आदि कामों को करने की स्वीकृति दी गयी है।

यह व्यवस्था व्यक्ति प्रधान नहीं बल्कि समाज प्रधान है। यह प्लेटो के '**वर्गो के सिद्धांत**' से मिलती जुलती है। प्लेटों ने भी ज्ञानी वर्ग, सैनिक वर्ग तथा व्यापारी वर्ग का उल्लेख किया है। ब्रैडले ने भी 'मेरा स्थान तथा तत्संबन्धी कर्त्तव्य' के अपने सिद्धांत के आधार पर व्यक्ति के कर्त्तव्यों की चर्चा की है। भारतीय वर्ण व्यवस्था दोनों से मिलती जुलती है। इसमें व्यक्ति का उत्थान और समाज की व्यवस्था दोनों सुरक्षित है। स्वभाव और गुण के अनुसार कर्म तथा उसके अनुसार समाज में स्थान और सामाजिक कार्य संचालन में विशिष्ट कर्त्तव्यों का निर्धारण तथा सभी वर्गो का अन्योन्याश्रित संबंध आदि इसके कुछ प्रमुख तत्व हैं।

आयु के साथ-साथ मनु ने मनुष्य के कार्यो का भी निर्धारण किया था, जो समाज के लिये उपयोगी तथा **आश्रम** के नाम से जाने जाते हैं। जीवन की अवधि को कम से कम सौ वर्ष मानकर चार भागों में बराबर - बराबर बाँटा गया था- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास।

जीवन के प्रथम 25 वर्ष **ब्रह्मचर्य** के नाम से जाने जाते हैं। ब्रह्म के मार्ग पर चलना, इन्द्रिय संयम, वेदाध्ययन, गुरूकुल में जा कर विद्याध्ययन, गुरू वन्दना, नित्य भिक्षा मॉग कर गुरू को अर्पित करना तथा स्वाध्याय में रत रहना ब्रह्मचारी के लिये आवश्यक था। ज्ञान के साथ ही वह कर्म के क्षेत्र में भी निपुण होता था तथा पूरी तैयारी के साथ **गृहस्थ** आश्रम में प्रविष्ट होता था। धर्मशास्त्रकारों ने गृहस्थाश्रम की बड़ी प्रशंसा की है।

''ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।

एते गृहस्थ प्रभावाश्चत्वारः पृथगाश्रमा॥''[13]

अर्थात् ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति यह चारों आश्रम पृथक होते हुये

भी गृहस्थाश्रम से ही प्रकट हुये हैं। महाभारत में पाँच प्रकार के गृहस्थ के कर्म बताये गये है[14] — दूसरी स्त्री के साथ सम्पर्क न करना, घर और पत्नी की रक्षा करना, बिना दी हुयी वस्तु न लेना, मधु का सेवन न करना और माँस न ग्रहण करना। स्वधर्म का पालन और अतिथि सेवा गृहस्थ का परम कर्त्तव्य माना गया है।

गृहस्थ आश्रम के सम्पूर्ण कर्त्तव्यों को पूरा करने के बाद अर्थात् संसार के मोह बंधन का त्याग करके वन की ओर प्रस्थान करना ही **वानप्रस्थ** है। वानप्रस्थी 50 से 75 वर्ष तक का जीवन इस आश्रम में व्यतीत करता है। इसका उद्देश्य यह है कि व्यक्ति इसमें आध्यात्मिक उत्कर्ष करे और भौतिक इच्छाओं से छुटकारा प्राप्त करे।

जीवन के अंतिम भाग अर्थात 75 से 100 वर्ष का जीवन **संन्यास आश्रम** है। मनु ने वेद सन्यास की भी चर्चा की है जिसमें सब कर्मो और कर्म दोषों को त्याग कर निश्ंचित चित्त से वेदाभ्यास करता हुआ सब भार पुत्रों को देकर निश्चित भाव से घर पर रहे। इस प्रकार कर्मो से सन्यास लेकर, आसक्ति रहित चित्त से आत्म-साधना में संलग्न रहता हुआ पुरूष संन्यास के द्वारा पापों का क्षय करके परम गति को प्राप्त होता है।[15]

इस प्रकार मनु ने वर्णाश्रम व्यवस्था देकर समाज और व्यक्ति दोनों के दायित्वों की ओर संकेत किया है। वर्णो के दायित्व में जहाँ एक ओर व्यक्ति के उत्थान को देखा जा सकता है वहीं दूसरी ओर समाज के गठन, व्यवस्था और संचालन में सुविधा देखी जा सकती है। आश्रमों की व्यवस्था में भी व्यक्ति के दायित्वों को स्पष्ट किया गया है और चारों आश्रमों में मनुष्य के भिन्न-भिन्न क्या कर्त्तव्य हैं इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। अतः सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की दृष्टि से वर्णाश्रम व्यवस्था का गठन भारतीय समाज व दर्शन के लिये महत्वपूर्ण माना जा सकता है।

मनुष्य के स्वरूप को जानने के साथ ही समाज के स्वरूप को जानना भी अत्यंत आवश्यक है। समाज मनुष्यों का एक समूह है, जिसका कुछ उद्देश्य या लक्ष्य होता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और अपनी प्रकृति को एक ऐसे संगठन का निर्माण और पुनर्निर्माण करने में व्यक्त करता है जो उसके व्यवहार का अनेक प्रकार से मार्गदर्शन और नियत्रण करता है। यह संगठन समाज है जो मनुष्य की क्रियाओं को स्वतंत्र और सीमित करता है, उनके लिये मानदण्ड निश्चित करता है जिन्हें व्यक्ति अपनाता है और बनाये रखता है। मानव इतिहास ने समाज में चाहे जैसी भी अपूर्णताओं और अत्याचारों को प्रदर्शित किया हो किंतु जीवन की प्रत्येक पूर्ति के लिये यह एक आवश्यक स्थिति है। इसलिये **ओडम्** ने ठीक ही कहा है कि 'समाज को हम मनुष्य के व्यवहारों, उसके संबंधों और उसकी विविध प्रकार की समस्याओं के रूप मे देख सकते हैं'। **एडम स्मिथ** का कहना है कि ' आपसी संबंधों की मितव्ययिता का बनावटी उपाय ही समाज हैं। **राइट** के अनुसार 'समाज लोगों का समूह नहीं है। यह व्यक्तियों और समूहों के बीच पाये जाने वाले संबंधों की एक व्यवस्था या संगठन है'। **मैकाइवर और पेज** ने समाज की स्पष्ट परिभाषा देते हुये कहा है कि ''समाज कार्यप्रणालियों और चलनों की अधिकार सत्ता और पारस्परिक सहायता की, अनेक समूह व श्रेणियों की तथा मानव व्यवहार के नियत्रणों अथवा स्वतंत्रताओं की एक व्यवस्था है। इस निरंतर परिवर्तनशील व जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक संबंधों का एक ताना बाना है और यह सदा बदलता रहता है।''[16]

इन परिभाषाओं से सामान्य रूप से यह स्पष्ट होता है कि समाज मानवीय संबधों की एक व्यवस्था है। समाज वहीं विद्यमान है जहाँ सामाजिक प्राणी एक दूसरे की ओर ऐसे ढंगों से व्यवहार करते हैं जिनका निर्धारण एक दूसरे की प्रतीति अथवा

जानकारी से होता है। इस प्रकार निर्धारित सभी संबंधो को हम सामाजिक कह सकते हैं। मैकाइवर और पेज के अनुसार समाज के निम्नलिखित मूलतत्व है—

1. **मनोवैज्ञानिक दशा :** अर्थात् अपने और दूसरे का ज्ञान होना सामाजिक संबंधो पर निर्भर है और इस सबंध की चेतना होना आवश्यक है। बिना इसके समाज की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। जैसे- एक मेज और टाइपराइटर के बीच के संबंध का प्रत्येक के अस्तित्व पर प्रभाव पड़ता है किंतु उनके बीच के संबंध को सामाजिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनके बीच मनोवैज्ञानिक दशा का अभाव है। इसके बिना न तो किसी तरह का सामाजिक संबंध बन सकता है और न ही समाज बन सकता है।

2. मैकाइवर और पेज ने समाज के दूसरे तत्व को '**सामाजिक संबंधों का विस्तार**' कहा है। संबंधों के विस्तार या व्यापकता से ही समाज संभव है। यदि समुदाय की भावना न होती और मनुष्य द्वारा सहयोग के कार्य न किये जाते तो कोई भी सामाजिक व्यवस्था अथवा समाज या अनेक समाज विद्यमान न होते।

3 समाज की धारणा में तीसरा मूल तत्व **समानता तथा भिन्नता** का तत्व है। मैकाइवर और पेज के अनुसार समाज समानता और भिन्नता दोनों पर आधारित है। यदि लोग बिल्कुल समान ही होते तो प्रायः चीटियों या मुधमक्खियों की तरह उनके सामाजिक संबंध भी बहुत सीमित होते।[17] उनके पारस्परिक आदान–प्रदान भी क्रिया अथवा पारस्परिक संयोग न के बराबर होते। इसी प्रकार भिन्नता भी सामाजिकता के लिये आवश्यक है। यह भिन्नता ही सामाजिक संबंधों में प्रगाढ़ता उत्पन्न करती है। यदि जीवन में भिन्नता न हो तो किसी प्रकार के संबंध की कल्पना नहीं की जा सकती है।

4. **अमूर्तता :-** समाज संबंधों पर आधारित होता है और संबंध को प्रत्यक्ष नहीं

कहा जा सकता बल्कि उसे अमूर्त कहेंगे। इसलिये समाज भी अमूर्त ही है। समाज को न देखा जा सकता है न छुआ जा सकता है। इसलिये समाज एक अमूर्त व्यवस्था या संगठन है।

5. **सामान्य लक्ष्य** :- सामान्य लक्ष्य भी सामाज का एक मूल तत्व है। इसका तात्पर्य यह है कि समाज सामान्य लक्ष्य पर टिका हुआ है अर्थात् समाज की प्रत्येक ईकाई का लक्ष्य एक होता है इसलिये सामाजिक संबंधो में दृढ़ता और गतिशीलता बनी रहती है।

6. **पारस्परिकता** के कारण ही सामाजिक संबंधों की नींव मजबूत होती है। मनुष्य अकेले अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। पारस्परिक आदान-प्रदान की आवश्यकता होती है। सहयोग की भावना उत्पन्न होती है। यह सहयोग और पारस्परिकता ही समाज का निर्माण करते हैं।

7. समाज की रचना में दो विरोधी तत्व **सहयोग और संघर्ष** भी आवश्यक हैं। मनुष्य सहयोग और संघर्ष से ही सामाजिक जीवन व्यतीत करता है। सहयोग से समूह का निर्माण होता है और संघर्ष से समूह का विकास तथा प्रगति होती है।

सारांशत: इस प्रकार समाज एक अमूर्त व्यवस्था या संगठन है। समाज केवल मनुष्यों का समूह नहीं है वरन् पारस्परिक व्यवहारों, क्रिया-प्रतिक्रिया और संबंधों की व्यवस्था है। इन संबंधों में मानसिक तत्व होते है, संबंधो का विस्तार होता है, समानता, भिन्नता, अमूर्तता, सामान्य हित, पारस्परिकता और सहयोग एवं संघर्ष के तत्व होते हैं, इन्हीं तत्वों से निर्मित मानवीय संबंधों की व्यवस्था को समाज कहते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक संबंध की उपज है। वस्तुत: हमारा जन्म एक ऐसे समाज में होता है जिसकी प्रक्रियायें हमारे वंशानुक्रम का निर्धारण करती हैं और

जिसके कुछ अंश समय बीतने के साथ केवल बाह्य सम्पत्ति न रहकर हमारी आंतरिक या मानसिक साज-सज्जा का रूप बन जाते हैं। सामाजिक वंशानुक्रम हमारे सामाजिक अनुभव के कारण नित्य बदलता रहता है और यही हमारे व्यक्तित्व को जागृत और निर्देशित करता है। समाज अनेक रूपों में व्यक्तियों की आंतरिक शक्तियों को मुक्त और सीमित करता है। जैसे-निश्चित अवसरों और उत्तेजनाओं को देने से हम पर निश्चित प्रतिबंध लगाने और हमारे आचरण में हस्तक्षेप करने से और सूक्ष्म एवं अदृश्य रूप से हमारे विश्वासों, मनोवृत्तियों, नैतिक आचरणों और आदर्शो को गढ़ने से भी होता है। व्यक्ति और सामाजिक वंशानुक्रम के इस मूलभूत एवं गत्यात्मक (dynamic) अन्योन्याश्रियता के ज्ञान से **अरस्तू** के इस कथन की सत्यता मालूम होती है। उनके अनुसार ''**मनुष्य एक समाजप्रिय प्राणी है**'' कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों के संबंध में समाज के प्रति परमार्थ अथवा परोपकारी व्यवहार करता है और न ही हमारा अभिप्राय यह है कि मनुष्य मानव प्रकृति की किसी मूलभूत रचना के कारण सामाजिक होता है किन्तु हमारा तात्पर्य यह अवश्य है कि ''समाज के बिना, सामाजिक वंशानुक्रम के बिना मानव का व्यक्तित्व न बनता है और न बन सकता है।''[18]

मूलतः प्लेटो और अरस्तू दोनों यह स्वीकार करते हैं कि '' मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है और राज्य नैतिक लक्ष्य को पूरा करने के लिये समाज का प्रभावपूर्ण संगठन है।''[19] अरस्तू के अनुसार मानव का जन्म समाज मे होता है और समाज में ही वह अपना जीवन यापन करता है। वह समाज से स्वयं को असम्पृक्त नहीं कर सकता तथा उससे अप्रभावित नहीं रह सकता। सामाजिकता को इस प्रकार हम मानव स्वभाव का ही अंग मान सकते हैं।

व्यक्ति समाज से निरपेक्ष नहीं रह सकता। अपूर्ण होने के नाते वह अन्य व्यक्ति की आवश्यकता की अनुभूति करता है। वस्तुतः बिना एक दूसरे की सहायता और

अपेक्षा के व्यक्ति सम्यक् रूप से सामाजिक जीवन यापन नहीं कर सकता है। उसकी विविध आवश्यकताओं, विभिन्न इच्छाओं तथा भिन्न उद्देश्यों की सिद्धि समाज में ही हो सकती है। इसलिये अरस्तू ने स्वीकार किया है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को समानता और स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। ऐसे समाज में ही अच्छे नागरिकों का निर्माण सभव है। मनुष्य की जन्मजात मूल प्रवृत्तियाँ ही उसके सामाजिक व्यवहार को निर्धारित करती हैं। मनुष्य का विकास सामाजिक संस्थाओं द्वारा ही सभव है। आदर्श राज्य में न्याय की स्थापना होती है तथा ऐसे राज्य के सदस्य के रूप में मनुष्य अच्छा नागरिक बनता है। न्याय के अभाव में शुभ जीवन संभव नहीं है। वस्तुतः नैतिक जीवन राजनैतिक जीवन के अधीन है। राज्य ही सर्वश्रेष्ठ समुदाय है जो कि सभी नागरिकों का सर्वोच्च हित साधन करता है राज्य के बाहर मनुष्य अपने नैतिक लक्ष्यो की पूर्ति नहीं कर सकता है।

इस प्रकार व्यक्ति और समाज में अन्योन्याश्रित संबंध है तथा व्यक्ति के आचरण और उसके क्रियाकलापों और उसकी सामाजिक गतिविधियों का समाज के विकास और उसके स्वरूप पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति का आदर्श आचरण और लक्ष्यों के प्रति प्रतिबद्धता, उसके कर्त्तव्यपालन की भावना और उसका संतुलित व्यवहार ही आदर्श समाज की संरचना में सहायक होता है। परंतु वर्तमान के व्यक्तिवादियों ने अन्योन्याश्रयता की मान्यता को स्वीकार नहीं किया है। 17 वीं शती में **टॉमस हाब्स** तथा 19वीं शती में **जॉन स्टुअर्टमिल** ने यही विचार प्रस्तुत किया कि 'समाज स्वभाव से ही वैयक्तिकता की अभिव्यंजना तथा विकास का शत्रु है।'[20]

इसके विपरीत **बैंजामिन किड** जैसे विचारकों के अनुसार व्यक्ति को समाज के अधीन रहना चाहिये। **हेगल** के कतिपय अनुयायी यह राय देते हैं कि समाज का अपना एक विशेष महत्व है जो अपने सदस्यों के प्रति की गयी उसकी सेवा से कहीं बढ़कर है।[21]

इन दृष्टिकोणों का तात्पर्य यही है कि किसी रहस्यपूर्वक ढग से समाज स्वय अपने अधिकार में जीवित है और इसका कल्याण उसके सदस्यों से पृथक अथवा सदस्यों के कल्याण को ठुकराकर ही सिद्ध किया जा सकता है। कभी-कभी यह मान लिया जाता है कि यह संभव है कि समाज के कल्याण के लिये व्यक्ति के (कुछ व्यक्तियों के हित अथवा कल्याण नही) हित को त्यागा जा सकता है। हम जिस समाज को जानते हैं वह यही है जिसमें उपर्युक्त व्यक्तित्व एक साथ, समय और स्थान के सूत्रो द्वारा पारस्परिक संबंध से बंधे होते हैं और जिनका निर्माण वे स्वयं करते हैं। व्यक्तियों के अनुभवों, संघर्षों, हितों, महत्वाकांक्षाओं एवं उनकी आशाओं तथा आशंकाओं के प्रकाश में ही हम समाज के किसी कार्य अथवा लक्ष्य को निर्धारित कर सकते हैं. इसके विपरीत समाज का अंग होने के नाते ही मनुष्य हितों, महत्वाकाक्षाओ एवं लक्ष्यों से पूर्ण होते है। केवल समाज में ही मानव प्रकृति उत्पन्न हो सकती है। व्यक्ति और समाज का संबंध एकांगी नहीं है अपितु प्रत्येक के ज्ञान के लिये दोनों आवश्यक हैं।

इस प्रकार ब्रह्मांड में व्यक्ति का क्या स्थान है और उसका स्वरूप क्या है ? समाज और सामाजिक संगठनों में मनुष्य की क्या भूमिका है तथा वह समाज और इन सामाजिक संगठनों से किस प्रकार संबद्ध है और समकालीन चिंतन में इन संबंधों में क्या परिवर्तन हुये ? इसका सर्वेक्षण करने के लिये और कुछ निष्कर्ष निकालने के लिये ही मैने यह शोध प्रबंध लिखा है। प्रस्तुत शोध प्रबंध को चार अध्यायों में विभक्त किया गया है।

(1) समकालिक भारतीय दार्शनिकों द्वारा व्यक्ति एवं समाज के स्वरूप का निरूपण

(2) व्यक्ति एवं समाज का संबंध

(I) व्यक्तिवादी दृष्टिकोण

(ii) समाजवादी दृष्टिकोण

(iii) समन्वयवादी दृष्टिकोण

(3) व्यक्ति एवं समाज के पारस्परिक संबंध-विविध मान्यताओं की समीक्षा

(4) उपसंहार (Conclusion)

प्रथम अध्याय में समकालिक भारतीय दार्शनिकों ने व्यक्ति एवं समाज के स्वरूप का जो निर्धारण किया है, उसका विवेचन किया गया है। इन दार्शनिकों में स्वामी रामतीर्थ, अरविंद, डा० राधाकृष्णन, महात्मा गाँधी, लोहिया, एम०एन०राय, आदि प्रमुख हैं। चूंकि इन समकालीन चिंतकों ने व्यावहारिक जगत को किसी न किसी प्रकार सत्यता प्रदान की है। अत: उनका दृष्टिकोण जीवन और जगत के प्रति स्वीकृति का है और इस प्रकार उनके लिये वैयक्तिक दु:ख, सामाजिक अन्याय, आर्थिक शोषण, राजनैतिक अत्याचार आदि सभी बाते कटु सत्य बन गयी हैं जिसके विरुद्ध संघर्ष करना मनुष्य का कर्त्तव्य बनता है वे उन्हें माया या मिथ्या कहकर टालना नहीं चाहते। यही कारण है कि गॉधी और विवेकानंद जहाँ एक ओर दरिद्रनारायण की उपासना के लिए सामान्य जन को प्रेरित करते हैं वहीं दूसरी ओर राधाकृष्णन स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के प्रजातंत्रात्मक मूल्यों पर बल देते हैं। उनके अनुसार न्यायपूर्वक आचरण, सौंदर्य से प्रेम करना और सत्य की भावना के साथ विनम्रतापूर्वक चलना यही सबसे ऊँचा धर्म है।[22]

इसी प्रकार महर्षि अरविंद अतिमानस के माध्यम से सर्वभूतहित अर्थात् समस्त जीवों के प्रति एकात्मकता तथा सारी दुनिया के लिये प्रेमभाव का संदेश देते हुए कहते हैं कि 'किसी व्यक्ति की मुक्ति अन्तिम रूप से तभी होगी जब विश्व भर में मानस का अतिमानस में पूर्ण विकास हो जायेगा'। अर्थात जब वह स्वयं में तथा अन्य सभी

प्राणियो में एक चैतन्य स्रोत तथा विश्वव्यापी प्रेम का अनुभव करेगा। जिसकी पुष्टि गीता के इस श्लोक से होती है—

सर्व भूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मानि।
ईक्षते योगमुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥[23]

अर्थात् सर्वत्र समृद्धि रखने वाला योग सम्पन्न व्यक्ति सब प्राणियों में स्वयं को एवं स्वयं में सब प्राणियों को देखता है।

गाँधी जी तो अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के लिये आध्यात्मिक शस्त्र (सत्याग्रह) ही ढूँढ निकालते हैं। महात्मा गाँधी के विचारों का समर्थन करते हुये ही डा० राममनोहर **लोहिया** ने साम्यवाद तथा पूँजीवाद के चंगुल से दूर रहकर ऐसे समाजवाद की कल्पना की थी जो विश्वव्यापी हो और स्वतंत्र तथा सर्वहितकारी हो। वे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में समानता समता तथा वसुधैव कुटुम्बकम् को सर्वाधिक महत्व देते थे।

इसी प्रकार एम०एन०राय स्वतंत्रता, सृजनात्मकता और नैतिकता को मनुष्य का अस्तित्वगत गुण मानते हुये मनुष्य के उत्कर्ष को ही अपना लक्ष्य मानते हैं।

इन सभी विचारकों ने धर्म के नैतिक पक्ष पर विशेष बल दिया है। कहीं न कहीं सबके मन में यह भावना रही है कि सर्वोच्च धार्मिक सत्य की अनुभूति के लिए नैतिक आचरण आवश्यक है।

द्वितीय अध्याय में व्यक्ति और समाज के संबंध को स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है। व्यक्ति और समाज के बीच एक घनिष्ठ संबंध है और सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य को समाज से असंपृक्त करके नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः मनुष्य की सामाजिक प्रकृति ही उसका मूलभूत लक्षण है, परंतु इस संदर्भ में हमारे सम्मुख कुछ प्रश्न उठते हैं कि मनुष्य किस अर्थ में सामाजिक है ? अथवा समाज से हमारा क्या

संबंध है ? समाज पर हमारी निर्भरता की प्रकृति क्या है ? जिस सम्पूर्णता से (या समष्टि से) हमारे व्यक्तिगत जीवन बंधे हुये है उसकी एकता की व्याख्या हम किस प्रकार करेंगे ये सभी प्रश्न इस एक मूलभूत प्रश्न के भिन्न-भिन्न पहलू हैं कि इकाई अथवा व्यक्ति का समूह अथवा सामाजिक व्यवस्था से संबंध। इस समस्या का समाधान प्रमुखत: तीन वर्गों में मिलता है—

(1) **व्यक्तिवादी समाधान :-** व्यक्तिवादी दृष्टिकोण समाज की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक प्रश्रय देता है। उसकी धारणा का केन्द्र बिंदु समाज न होकर व्यक्ति है। व्यक्तिवादियो के अनुसार व्यक्ति अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये विभिन्न समुदायों, समाज, कुटुम्ब, जाति आदि का निर्माण करता है जिनके लिये साध्य स्वयं व्यक्ति ही है। समाज को व्यक्तियों के क्रियाकलाप में आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जिससे निर्बाध रूप से व्यक्ति अपने जीवन पथ पर अग्रसर हो सके तथा अपने व्यक्तित्व का सर्वागींण विकास करने में सक्षम हो सके। प्रमुख व्यक्तिवादी दार्शनिक है — लॉक, मिल, अरविंद, विवेकानंद स्वामी रामतीर्थ।

(2) **समाजवादी दृष्टिकोण :-** यह व्यक्तिवादी विचारधारा का विरोधी है तथा व्यक्ति को पूर्णरूपेण समाज पर आधारित मानता है। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य अपने सर्वोत्तम लक्ष्यों की प्राप्ति समाज में रहकर ही कर सकता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य समाज से असंपृक्त नहीं रह सकता। समाज के प्रति समर्पित जीवन ही उच्च जीवन है। यह सिद्धान्त समाज को आवश्यक बुराई नहीं अपितु अच्छाई मानता है। इस सिद्धांत के समर्थकों में है गाँधी, लोहिया, हॉब्स, हेगल, मार्क्स तथा सभी फासिस्ट विचारक-मुसोलिनी, हिटलर आदि।

(3) **समन्वयवादी दृष्टिकोण :-** मनुष्य और समाज के संबंध में व्यक्तिवादी और समाजवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा समन्वयवादी दृष्टिकोण समाज और व्यक्ति के बीच

समन्वयात्मक संबंध स्थापित हुये एक ही परम सत्ता में विश्वास करता है तथा इस जगत में जो विविधता, अनेकता है उसे उसी परमसत्ता की अभिव्यक्ति मानता है। समाज मनुष्य का ही व्यापक रूप है जिसमें मनुष्य अपनी नैतिक और आध्यात्मिक इच्छाओं व आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। व्यक्ति और समाज के हितों में न तो कोई टकराव है, न ही कोई मूलभूत अंतर। व्यक्ति की समष्टि ही पूर्णता की अभिव्यक्ति है। टी०एच०ग्रीन ने यहाँ तक कहा है कि समाज नैसर्गिक संस्था है, यह साध्य नहीं है अपितु अच्छे मानव जीवन का साधन मात्र है। समाज को ग्रीन नैतिक संस्था मानते हैं। जिन प्रमुख समन्वयवादी दार्शनिकों के विचार मैंने संकलित किये हैं वे हैं— टी० एच०ग्रीन, डा० राधाकृष्णन और डा० संगमलाल पाण्डेय।

'व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंध :- विविध मान्यताओं की समीक्षा' मेरे शोध प्रबंध का तीसरा अध्याय है। व्यक्ति और समाज के संबंध में ऊपर वर्णित तीनो सिद्धांतो में यदि कुछ गुण हैं तो कुछ न कुछ कमियाँ भी होंगीं अत: हमारे लिये यह जानना महत्वपूर्ण है कि तीनों सिद्धान्तों में कौन सबसे अधिक उपयुक्त है और कौन सा सिद्धान्त मेरी इस शोध समस्या ''व्यक्ति और समाज के संबंध'' का सबसे अच्छा समाधान प्रस्तुत करता है। इसके लिये इन सभी सिद्धान्तों के गुण-दोषों पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है इस अध्याय में। व्यक्तिवादी सिद्धान्त व्यक्ति की सत्ता, स्वतंत्रता एवं उसके महत्व को प्रमुख रूप से प्रकट करते हुये नैतिक दृष्टि से व्यक्ति के विकास में किसी भी प्रकार के अवरोध को अनावश्यक मानता है। मुक्त व्यापार, पूँजीवाद, इसी व्यक्तिवाद की ही देन हैं। राजनीति के क्षेत्र में प्रजातंत्र का आधार भी यही व्यक्तिवाद है।

इन सब अच्छाइयों के बावजूद यह सिद्धान्त इस भ्रमपूर्ण और गलत विचारधारा का पोषण करता है कि जो वैयक्तिक दृष्टि से उचित है, वह सामाजिक दृष्टि से भी

समुचित है। चूँकि यह सिद्धान्त समाज और राज्य को केवल नियंत्रण स्थापित करने वाली संस्था मानता है। अतः इसके भावात्मक कार्यो की उपेक्षा करता है जबकि समाज मनुष्यों के अंदर बहुत सारी अच्छी आदतें विकसित करने में तथा व्यक्ति के लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होता है। अतः समाज से अलग व्यक्ति की सत्ता नहीं है। इस प्रकार व्यक्तिवाद व्यक्ति और समाज के बीच सुसगत सबंध स्थापित नही कर पाता है। दूसरी ओर समाजवादी सिद्धान्त व्यक्ति और समाज दोनों के आदर्शो का निरूपण करता है तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास समाज में ही संभव मानता है। समाजवाद निश्चित रूप से व्यक्ति की ऐसी स्वतंत्रता पर बल देता है जो कि समाज के लोगों के परस्पर सहयोग पूर्वक कार्य करने से ही संभव है। समाज-सेवा को आत्म-विकास का आधार मानना, मजदूरों में आत्म-सम्मान की भावना पैदा करना और पूंजीवाद या सामाजिक असमानता की समाप्ति समाजवाद की ही देन है।

इन सब अच्छाइयों के बावजूद समाजवादी व्यवस्था में बहुत अधिक प्रशासकीय कठिनाइयाँ होने की संभावना है। **स्पेंसर** का कहना है कि समाजवाद में समाज का हर सदस्य व्यक्ति के रूप में पूरे समाज का दास हो जायेगा। समाजवाद में व्यक्तित्व का दमन होगा, प्रतिभा कुंठित हो जायेगी और नागरिक आलसी तथा अकर्मण्य हो जायेंगे। व्यक्तिगत अन्तः प्रेरणा और जिम्मेदारी की भावना नौकरशाही के कारण लोप हो जायेगी और सरकारी विभागों का बोलबाला हो जायेगा। उत्पादन में उत्तमता और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से कमी हो जायेगी'। इन सब कारणों से यह सिद्धान्त पूरी तरह से उपयुक्त नहीं है।

व्यक्तिवादी और समाजवादी दोनों सिद्धान्तों के विपरीत **समन्वयवाद** ही ऐसा सिद्धान्त है जिसमें न तो केवल व्यक्ति के हित को सर्वोपरि माना गया है और न ही केवल समाज के हित को एक मात्र लक्ष्य माना गया है बल्कि दोनों के बीच समन्वय

:थापित किया गया है। अतः यह सिद्धान्त पूर्ण है क्योंकि व्यक्ति और समाज दोनों एक :ूसरे पर निर्भर है। मनुष्य अपने सर्वोत्तम लक्ष्यों की प्राप्ति समाज में रहकर ही कर :कता है। समाज के प्रति समर्पित जीवन ही उच्च है। समाज द्वारा उपलब्ध कराये गये अनुकूल वातावरण में ही मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है। अतः समन्वय की दृष्टि :े मध्यम मार्ग होने के कारण यह सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। अन्य मत एकांगी है।

शोध प्रबन्ध के अन्त में उपसंहार करते हुए सम्पूर्ण वैचारिक मन्थन का सारांश प्रस्तुत किया गया है।

संदर्भ ग्रंथ

1 देखिये -अग्निपुराण, शुद्धिप्रत नामाध्याय।

2 देशकाल और सत्य का सर्वोपरि साक्ष्य : मानवीय चेतना और विवेक विकल्प मई 1967, पृ०-204।

3 एन्साइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल साइन्सेज, 1937, भाग 4, पृ०-541

4. डिक्शनरी ऑफ फिलॉसफी

5. ऋग्वेद 2/125; 8, 103/3

6 बृहदारण्यक उपनिषद 11/46/9

7 बृहदारण्यक उपनिषद 11/3/19

8 छान्दोग्य उपनिषद 4/15

9 जवाहर लाल नेहरू— दि डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, पृ०-78

10 पी०टी० राजू - दि प्रबुद्ध भारत, अगस्त 1957

11. ऋग्वेद - 10/90/12

12 मनुस्मृति -1.31 ·

13 मनुस्मृति - 6.87

14. महाभारत-अनुशासन पर्व

15 मनुस्मृत्ति - 6/95/97,

16 मैकाइवर और पेज – 'समाज', पृ०–5

17 वही 'समाज' पृ०-7

18 वही 'समाज' पृ०–42

19. ए०डी० आर्शीवादम् – राजनीति विज्ञान, पृ०–564

20. मैकाइवर और पेज – 'समाज' – पृ०–43

21 B Kidd - 'Social evolution' (New Ed New York 1922) & 'Principle of western civilization, (London, 1902) & as an example of Hegalion doctrine - Bosanquet-chap-V & VII

22. डा० राधाकृष्णन् – 'धर्म और समाज' – पृ० 45

23. गीता — 16/29

प्रथम अध्याय

समकालिक भारतीय दार्शनिकों द्वारा व्यक्ति और समाज के स्वरूप का निरूपण

समकालिक भारतीय दार्शनिकों द्वारा व्यक्ति के स्वरूप का निरूपण :-

मानव समस्त विचारों का केन्द्र विन्दु है, यह सार्वभौम सत्य है। भारत में मानव के महत्व की कभी अनदेखी नहीं की गयी। वेदों के युग से ही मनुष्य सारी चिन्तना का केन्द्र बिंदु रहा है। इसका मुख्य कारण संभवतः यह रहा है कि भारत में दर्शन और धर्म कभी भी पूरी तरह से अलग नहीं हुये हैं और धर्म अनिवार्य रूप से मानव केन्द्रित रहा है। ''बडे भाग मानुष तन पावा'' इसी का अर्थ है। 'मानव' का 'मानव मात्र' होना ही अपने आप में एक विशेष अर्थ रखता है और जब विश्व के धर्म एवं दर्शनों से जोड़ दिया जाता है तो उसका अर्थ एक विशाल रूप ग्रहण कर लेता है। उसका ''स्व'' व्यष्टि से समष्टि में विलीन हो जाता है। उसके ये आदर्श नैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं भौतिक जगत से संबंधित हो जाते हैं, जिनके आधार पर युगानुसार मानववादी स्वरूप बदलता रहता है और नये-नये मूल्यों को लेकर पद्धति के रूप में विकसित होता रहता है। भारतीय दृष्टि से सभी प्राणियों में भगवद् बुद्धि रखकर उस विराट् भगवान् को देखना मानवता का सत्य स्वरूप है।

समकालीन चिंतको ने चूंकि व्यावहारिक जगत को किसी न किसी प्रकार सत्यता प्रदान की है। अतः उनका दृष्टिकोण जीवन और जगत के प्रति स्वीकृति का है और इस प्रकार उनके लिये वैयक्तिक दुख,सामाजिक अन्याय, आर्थिक शोषण राजनैतिक अत्याचार आदि सभी बातें कटु सत्य बन गयी है, जिसके विरुद्ध संघर्ष करना मनुष्य का कर्त्तव्य बनता है।

रवीन्द्रनाथ से लेकर अरविंद तक उन्हें माया या मिथ्या कहकर टालना नहीं चाहते। यही कारण है कि गाँधी और विवेकानंद जहाँ एक ओर दरिद्र नारायण की उपासना के लिये सामान्य जन को प्रेरित करते है। वही राधाकृष्णन स्वतंत्रता, समानता

और भ्रातृत्व के प्रजातंत्रात्मक मूल्यों पर बल देते हैं और दयानद धार्मिक, सामाजिक सुधार का बीड़ा उठाते हैं। गाँधी जी तो अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के लिए आध्यात्मिक अस्त्र (सत्याग्रह) ही ढूँढ निकालते हैं। सभी विचारकों ने धर्म के नैतिक पक्ष पर विशेष बल दिया है। कहीं न कहीं सबके मन मे यह भावना रही है कि सर्वोच्च धार्मिक सत्य की अनुभूति के लिये नैतिक आचरण आवश्यक है।

स्वामी रामतीर्थ

भारतीय पुर्नजागरण के मंत्रदृष्टा, रहस्यवादी, कवि, वेदान्ती एवं योगी होते हुये भी स्वामी रामतीर्थ कर्मठता में ही जीवन की सफलता को मानते थे। स्वामी रामतीर्थ ने ही शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त की व्यवहारिक व्याख्या करके उसे भक्ति और कर्म तक ही नहीं अपितु मानव सेवा तक व्यापक बनाया।

भारत में प्राचीन काल से ही विश्व-मानवता अर्थात मनुष्य मात्र के भ्रातृ-भाव का अनुभव कर लिया गया था। ''वसुधैव कुटुम्बकम्'', हमारा जीवन नाद था और हमारे जीवन का बीज मंत्र था—

''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा कश्चिद् दुःखमाप्यनुयात्॥''[1]

अर्थात् सभी मनुष्य सुखी हों, सभी निरोग हों, सबके चारों ओर कल्याणकारी दृश्य हो और किसी को भी दुख प्राप्त न हो। स्वामी रामतीर्थ भी इसी विचारधारा के प्रबल समर्थक थे। वे कहते हैं — ''जब हम लोग यह अनुभव करते हैं कि संसार के सब मनुष्य हमारी अपनी ही आत्मा हैं, तो हमें कितनी प्रसन्नता होती है।''

स्वामी जी की इच्छा है कि मानव के सभी शरीरों को आप अपना ही शरीर समझें। सिर्फ समझे ही नहीं हृदय में अनुभव भी करें। आप अनुभव करें कि सब

योग्यताएँ, शक्तियाँ तथा कुशलताएँ आपके ही मन को प्राप्त हुयी हैं। यह इस प्रकार की कल्पना नहीं है जिसे आप बनावटी अथवा कठिन कह सकें। जीवन के ऊँचे आदर्शो को पाने के लिये साधना करना आवश्यक होता है।

दूसरों के प्रति आपका कर्त्तव्य क्या है ? अन्य लोग जब रूग्ण हो, तब आप उन्हें अपने पास ले आएं। जिस प्रकार हम अपने शरीर विशेष की सेवा टहल करते हैं उसी प्रकार दूसरों के घावों की सेवा-सुश्रुषा करें। मानों वे हमारे ही हैं। हमारा कर्त्तव्य दूसरों को ऊँचा उठाना, उनसे हमदर्दी करना है परंतु अपने खुद के शरीर के प्रति भी हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम अपने को सभी प्रकार की परिस्थितियों में हर्षित रखें, सुखी अनुभव करें तथा सब प्रकार की बेचैनी तथा क्लेशों से बचे रहें।

इस बात की पुष्टि करते हुये रामतीर्थ कहते हैं कि जिस समय आप वस्तुतः अपने वयस्य के प्रति सहानुभूति रखते हैं, जब आप स्नेह, दया, विशाल हृदयता की भावनाओं को और किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति सम्मान की भावना को अपने मन से पुष्ट करते हैं, तो दूसरा व्यक्ति सहस्रों मीलों की दूरी पर रहता हुआ भी उन सम्पूर्ण भावनाओं को अनुभव करने पर विवश होता है। क्या इससे स्पष्ट नहीं होता कि आप सबके चित्त एक ही स्तर पर हैं तथा उनमें परस्पर घनिष्ठ संबंध है? मानसिक जगत मे आप सब परस्पर भाई-भाई हैं।[2]

स्वामी रामतार्थ के अनुसार यदि हम अपने को व्यथा तथा कष्ट से बचाये रखना चाहते हैं, यदि और सुख तथा आनन्द पाना चाहते हैं तो प्रत्येक के साथ हमें अपनी अभिन्नता (एकता) का अनुभव करना होगा। यह एक सत्य है जिसकी सत्यता की परीक्षा केवल अनुभव से, प्रयोग से और उसे अपने वास्तविक जीवन में उतारने से ही हो सकती है और किसी प्रकार से नहीं। रामतीर्थ के अनुसार—

(1) कोई मानव तब तक सर्वरुप परमेश्वर के साथ अपनी अभेदता कभी भी अनुभव नहीं कर सकता जब तक सम्पूर्ण राष्ट्र के साथ अभिन्नता उसके शरीर के रोम-रोम में जोश न मारने लगे।

(2) प्रत्येक मानव एक झरना है जिससे स्वर्ग बहकर आता है। हिन्दूओं के मत में हर एक मनुष्य ब्रह्म है, एक बहुमूल्य रत्न हैं, परम आनन्द है, सब सुखों का स्रोत है। हर एक मनुष्य स्वयं ब्रह्म है, स्वयं सब कुछ है।''[3]

परंतु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि यह सत्य है तो मनुष्य दुख क्यों पाते हैं ? वे दुख इसलिये पाते हैं कि उनके पास उपाय या युक्ति नहीं है। लोग अपनी आत्मा में प्रविष्ट होने, अपने ही सत्य स्वरूप का साक्षात्कार करने की विधि से अनभिज्ञ हैं। सभी धर्म केवल आत्मा के प्रकाशन के प्रयास हैं। हमारे अन्दर अमूल्य रत्न विद्यमान है। उन पर हमने स्वयं अपने हाथों से, अपनी ही कोशिश से पर्दा डाला हुआ है। यही कारण है कि हम अपने आपको दीन-हीन अभागा मान लेते हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए **इमर्सन** ने कहा है—

''वास्वत में प्रत्येक मानव परमात्मा है, किंतु मूर्खो के समान अभिनय कर रहा है।''

रामतीर्थ कहते हैं कि ''उस परमेश्वर को आलिंगन में लेकर उसे स्वीकार करके उससे अभिन्न होकर, उससे इस कोटि तक एक हो जाओ कि अलगाव का लेशमात्र भी शेष न रहे।''[4]

इस तरह हमें यह दिखायी देता है कि जो मानव धर्म की उन्नति की शुरू की हल्लत में है, कभी-कभी वे भी बहुत ऊँचे चढ़ जाते हैं। यदि वे उतने ही साधु तथा सच्चे हों जितने कि उनके वचन होते हैं, यदि वे परमात्मा से मिले वचनों को भंग नहीं

करते, प्रतिज्ञाओं को नहीं तोड़ते तो वे परम आनन्द की स्थिति तक पहुँच जाते हैं। परमात्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति होते ही उन्हें दिव्य आनन्द की प्राप्ति होने लगती है। वास्तविक धर्म यही है। विकास की सर्वोच्च अवस्था विश्व-मानवता है। विश्व जीवन चार कोटियों में विभक्त किया जा सकता है[5] — खनिज, उद्‌भिज, पशु और मानव। जीवन की कोटि में पशु मानव की अपेक्षा अत्यधिक नीचे है। मानव में पशु की अपेक्षा अधिक उद्योग शक्ति, अधिक गति तथा ऊँचे दर्जे की कार्य शक्ति होती है।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या इस प्रकार के मानव हैं जिनकी गति **खनिजों** की गति के समान है ? जिन मानवों के चक्र का केन्द्र एक बिंदु मात्र है (क्योंकि खनिज कोटि की गति लट्टू की गति के सदृश है) जिनकी गति आत्म केन्द्रित है उनका जीवन खनिज पदार्थों के समान है। उनकी सारी क्रिया, सारी शक्ति, सारा उद्योग, अपने शरीर के बिंदु पर केन्द्रित होता है। इन्द्रियों की इच्छाओं की पूर्ति के सिवाय उनके जीवन का और कोई भी लक्ष्य नही होता। नीचे दर्जे के सुखों की खोज करके उन्हें भोगना,उनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य होता है। उनके बच्चे भूखे मर रहे हैं, तो भी वे चिन्ता नहीं करते। पड़ोसी चाहे मरें या जियें, इन्हें कुछ चिन्ता नहीं होती। रामतीर्थ के अनुसार ऐसे व्यक्तियों की सम्पूर्ण क्रियाशीलता का एक मात्र केन्द्र उनका "अपना शरीर" ही है।

रामतीर्थ के अनुसार "**वनस्पति**" कोटि के मनुष्य का दायरा कुछ बड़ा होता है। ये लोग दूसरों का हित कुचलकर अपनी इन्द्रियों की लालसा की पूर्ति नहीं करते। अपने शरीर के साथ-साथ इन्हें अपनी पत्नी तथा बाल-बच्चों का भी ख्याल रहता है। ये अपने क्षुद्र व्यक्तित्व तक ही सीमित न रहकर कुछ अन्य व्यक्तियों का भी हित साधन करते हैं। हालाँकि निःस्वार्थ इन्हें भी कदापि नहीं कहा जा सकता। इनकी आत्मा का थोड़ा ही विकास हुआ है। **उद्‌भिज** मनुष्य की आत्मा परिवार तक ही सीमित है।

तीसरी कोटि के मनुष्य **पशु मानव** कहे जा सकते है। इनकी अभिन्नता तुच्छ या संकीर्ण परिवार से ऊँची होती है। ये लोग बड़े अच्छे, उपयोगी तथा क्रियाशील होते हैं। किंतु ये भी एक सीमा तक ही जाते हैं तथा ये भी स्वार्थ भावना वाले होते हैं। ये दूसरे वर्गो, सम्प्रदायों, जातियों या राज्यों का अहित करके भी अपने वर्ग, सम्प्रदाय, जाति या प्रदेश का भला करते हैं। दंगे-फसाद, लड़ाई झगड़े ऐसे ही लोगों की देन हैं।

चौथी कोटि के मनुष्य का वर्णन करते हुये रामतीर्थ कहते हैं कि ये मनुष्य **देशभक्त** मनुष्य कहलाते हैं। इनका मार्ग विशाल होता है। ये समस्त राष्ट्र का लाभ चाहते और करते हैं। ये धन्य हैं। परंतु जब इन व्यक्तियों में स्वार्थ भावना आ जाती है, जब इनकी देशभक्ति दूसरों के प्रति निर्दयतापूर्ण हो जाती है तो इनमें एक प्रकार का पागलपन आ जाता है। इसी प्रकार के व्यक्ति युद्ध करा देते हैं। एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र का संग्राम कराकर ये हजारों, लाखों मनुष्यों की प्राणहानि का कारण बनते हैं।

पाँचवी कोटि में वे मानव आते हैं जिन्हें **देवमानव** कहा जाता है। इनका समस्त विश्व से अद्वैत होता है। ये मुक्त पुरूष होते हैं। ये सब प्रकार के कष्ट, चिन्ता, भय, रोग, शोक, शारीरिक इच्छाओं तथा स्वार्थ से परे होते हैं। समस्त विश्व ही इनका घर होता है। विशाल विश्व को अपनी आत्मा में स्थान देने के कारण ये विश्वात्मा हो जाते हैं। सबकी आत्मा इनकी आत्मा हो जाती है, इनका सुख आत्मसुख, इनका आनंद आत्मानंद, इनका हित विश्व-हित होता है। ऐसे मनुष्यों की तुलना **अरविन्द** के ''अतिमानव'' से की जा सकती है। **गीता** के निम्न श्लोक से भी इस बात की पुष्टि होती है[6]—

''सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग मुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
''समं सर्वेषु भूतेषु निष्पन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्व विनश्यन्त यः पश्यति सपश्यति॥

अर्थात् सर्वत्र समृद्धि रखने वाला योग सम्पन्न व्यक्ति सब प्राणियों में स्वयं को एवं स्वयं में सब प्राणियों को देखता है (अनुभव करता है)। सभी विनाशशील प्राणियों में समान रूप से स्थित अविनाशी परमेश्वर को जो जानता है वही वास्तविक (सत्य) जानता है।

ये सूर्य की किरणों के समान, ऊषा की लालिमा के समान, पत्तों की मन्द ध्वनि के तुल्य, समुद्र के भीषण विक्षोभ, नवयुवती की कोमल कातर वाणी, मातृ-हृदय के भय के समान, गुलाब के फूल के समान, दीपशिखा के समान, मादकता के समान होते हैं। ऐसे विश्व-मानवतावादी व्यक्ति मानव-विकास की सर्वोच्च कोटि को पहुँचे हुये होते हैं। ये मानवता के दुर्लभ रत्न होते हैं। इस प्रकार स्वामी रामतीर्थ ने मनुष्य के स्वरूप को स्पष्ट किया है।[7]

डा० राधाकृष्णन :- भारत के कुछ महान् स्त्री-पुरुषों ने सामान्यता की परिधि से ऊपर उठकर अपने आदर्शों के लिये संघर्ष किया। इन्हीं में डा० राधाकृष्णन भी एक थे। वे ऐसे स्वप्नद्रष्टा थे जिन्हें अपने स्वप्नों को यथार्थ में बदल देने का असीम साहस था। जिन्होंने सत्य को पा लिया था और किसी भी कीमत पर उसका सौदा करने को तैयार नहीं थे। हम मानव जाति के जीवन में एक सबसे अधिक निश्चायक समय में रह रहे हैं। मानव इतिहास के अन्य किसी भी समय में इतने लोगों के सिर पर इतना बड़ा बोझ नहीं था, और न ही वे इतने यंत्रणापूर्ण अत्याचारों और मनोवेदनाओं के कष्ट पा रहें थे। हम ऐसे संसार में जी रहे है जिसमें विषाद सर्वव्यापी है। परम्पराएँ, संयम और स्थापित कानून और व्यवस्था आश्चर्यजनक रूप से शिथिल हो गये हैं। जो विचार कल तक सामाजिक भद्रता और न्याय से अविच्छेद्य समझे जाते थे और जो शताब्दियों से लोगों के आचरण का निर्देशन और अनुशासन करने में समर्थ रहे थे, आज बह गये हैं। संसार गलतफहमियों, कटुताओं और संघर्षो से विदीर्ण हो गया है।

व्यक्ति को यह बात समझ में आती है कि उसे अपनी सामाजिक सहज प्रवृत्तियों और संवेदनाओं का विस्तार अपने राष्ट्र के सब सदस्यों तक कर लेना चाहिये, भले ही वे व्यक्तिगत रूप से उससे परिचित न भी हों। जब एक बार यह स्थिति आ जायेगी, तब उसकी संवेदनाओं का सब राष्ट्रों और जातियों के मनुष्यों तक विस्तार होने में कोई भी बाधा नही रह जायेगी।''

यह सीखने में हमें धीरज के साथ अटकते और वीरता पूर्वक प्रयत्न करते हुये कई शताब्दियॉ लगी है कि मनुष्य का अपना जीवन और दूसरों का जीवन पवित्र है। प्रत्येक व्यक्ति में अपनी अलग दमक होती है, उसका विशिष्ट सौंदर्य होता है। उसे देखने के लिये केवल हमारी दृष्टि पर्याप्त सूक्ष्म होनी चाहिये। अच्छा बनने की इच्छा हमारी रचना का अनिवार्य अंग है। इस इच्छा को कितना ही दबाया जाये, कितना ही झुकाया जाये या रूपान्तरित किया जाये परंतु इसे नष्ट नहीं किया जा सकता। यह सर्वदा विद्यमान रहती है और जो इसे देख लेता है उसे बहुत माधुर्यपूर्ण प्रतिभावन (रिस्पान्स) प्राप्त होता है।[11]

विनाशकर्ता मानव ही निर्माता भी है। यह कुरूक्षेत्र धर्म क्षेत्र भी बन सकता है। हो सकता है परंतु यह संभव है कि इस लक्ष्य तक पहुँचने में देर लगे। हो सकता है कि यह प्रसव, एक नये संसार का जन्म काफी कठिन हो, परंतु यह बात सोचने योग्य भी नहीं है कि मानवीय मूल्यों का स्थायी रूप से विनाश हो सकता है। हममें से प्रत्येक में एक छिपा हुआ ज्ञान है, जीवन की एकता की एक आध्यात्मिक अनुभूति है, जिसके कारण मानव मन में यह विश्वास बना रहता है कि एक अपेक्षाकृत अच्छी व्यवस्था आकर रहेगी। ऐसे भी समय आये हैं जब यह विश्वास दुर्बल पड़ गया था और आशा धुंधली हो गयी थी, परंतु इन अंधकार के क्षणों के बाद अरूणोदय के क्षण आये हैं जिन्होंने मानव जीवन को इतना अधिक समृद्ध किया कि शब्दों द्वारा बता पाना कठिन है।[12]

मनुष्य एक विचित्र प्राणी है जो दूसरे पशुओं से मूलतः भिन्न है। उसकी दृष्टि का क्षितिज बहुत दूर तक है। उसमें अजेय आशाएँ, सृजनशील ऊर्जाएं और आध्यात्मिक शक्तियाॅ है। यदि इन सबका विकास न होने पाए और वे अतृप्त रहें तो सम्पत्ति से प्राप्त हो सकने वाली सुख-सुविधाओं के होते हुये भी उसे यह अनुभव होता रहेगा कि जीवन जीने योग्य नहीं है।

मनुष्य में एक न केवल जीने की अपितु गौरव के साथ जीने की मौलिक आकांक्षा विद्यामान है। जब हमारे इस गौरवपूर्ण जीवन के आवेश को ब्रह्मांडीय समर्थन प्राप्त हो जाता है तब हमारे अन्दर एक विशिष्ट प्रकार का धार्मिक उत्साह भर उठता है। ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जिसके मन में कभी न कभी ये आधारभूत प्रश्न न उठे हो कि मैं क्या हूँ? मेरा मूल कहाँ है ? मेरी भवितव्यता क्या है? इस रूनझुन भरे पद्य पर विचार कीजिये - ''अरे ये सब रात्रियाँ और दिवस किधर जाते हैं ? और आगामी कल कहाँ हो सकता है ? जब मैं न रहूँगा, क्या तब कोई रहेगा ? और मै सदा मैं ही क्यों रहता हूँ।''[13] इसके अतिरिक्त हमें इस विश्व के रहस्य पर विस्मय की अनुभूति होती है। इसकी सुव्यवस्थितता में विश्वास होता है। हमें चिरकाल से बनी आ रही पहेलियों के उत्तरों की अंतहीन खोज और वस्तुओं की सच्चाई को खोज निकालने की अधीरतापूर्ण लालसा है, उस सच्चाई को जो इस अर्थ में सार्वभौम और परम है कि वह सब मनुष्यों के लिये, सब देशों और कालों के लिये प्रामाणिक है।

किसी भी सभ्यता का स्वरूप इस बात पर आधारित होता है कि मनुष्य की प्रकृति और उसकी भवितव्यता के विषय में उसकी क्या धारणाएँ है। मानव से आत्मतत्व का बहिष्कार भौतिकतत्व की सर्वोच्चता का प्रमुख कारण है जो आज हमारे लिये इतनी बोझल और कष्टदायक बन गयी है। भौतिकता द्वारा मानवीयता की पराजय हमारी सभ्यता की केन्द्रीय दुर्बलता है। **भगवद्गीता** में लिखा है कि जब मनुष्य

अपने आपको धरती पर देवता समझने लगते हैं और जब वे अपने मूल से अपना संबंध विच्छेद कर लेते हैं और वे इस प्रकार अज्ञान द्वारा पथ भ्रष्ट हो जाते हैं तब उनमें एक शैतानी विकृति या अहंकार उठ खड़ा होता है जो ज्ञान और शक्ति दोनों की दृष्टि से अपने आपको सर्वोच्च घोषित करता है—

ईश्वरोऽहमहं अहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान सुखी,

. . . . इत्यज्ञान विमोहिताः।''[14]

मनुष्य स्वायत्त हो गया है और उसने आज्ञापालन और विनय को तिलांजलि दे ही है। वह अपना स्वामी स्वयं बनना चाहता है। जीवन पर अधिकार करने और उसका नियंत्रण करने और ईश्वरहीन संस्कृति का निर्माण करने के प्रयास में वह परमात्मा के विरुद्ध विद्रोह करता है। युद्ध उसके इस धर्मत्याग का, चारूता द्वारा अपरिष्कृत प्रकृति के स्तुतिगान का परिणाम है। अधिनायकों ने अपने आपको परमात्मा के स्थान पर ला रखा है। वे ईश्वरीय विश्वास को समाप्त कर देना चाहते हैं।

हमारे नेताओं को सुदूर ऊँचाइयों से आने वाला प्रकाश प्राप्त नहीं होता अपितु वे केवल बुद्धि के पार्थिव प्रकाश को ही प्रतिफलित करते हैं। इसलिये उनका भाग्य ल्युसीफर का सा ही होगा और उन्हें बुद्धि के अभिमान के कारण विनाश के गर्त में गिरना होगा। जो इस प्रकार स्पष्ट होता है—

''किंतु मनुष्य, अभिमानी मनुष्य अपने तुच्छ और क्षुद्र अधिकार से भरा जिसका उसे सबसे अधिक निश्चय है उसी के विषय में सबसे अधिक अज्ञानी, उसका भंगुरसार एक क्रुद्ध वानर की भाँति उच्च स्वर्ग के सम्मुख ऐसी विचित्र करतूतें करता कि देखकर देवदूतों को रोना आ जाये।[15]

महर्षि अरविंद आधुनिक भारत के महानतम् दार्शनिक, तथा योगी के रूप में प्रसिद्ध है। विश्व का आदि, विकास, लक्ष्य तथा स्वरूप एवं व्यक्ति का जन्म, मृत्यु एवं पुनर्जन्म और इसी प्रकार आत्मत्व एवं ईश्वरत्तत्व आदि विषयों का मौलिक, विस्तृत एवं तर्कपूर्ण चिंतन प्रस्तुत करने एवं साथ में संसार के शाश्वत की ही गहरी चिन्ता व्यक्त करने वाली आधुनिक भारतीय दर्शन पद्धति के रूप में अरविंद के विचारों का भारतीय दर्शन के इतिहास मे एक महत्वपूर्ण स्थान है। अरविंद अपने योग को एकीकृत योग (Integral yoga) कहते हैं। अरविंद के अनुसार पुराने योग सम्प्रदाय आंशिक होकर व्यक्तित्व के किसी एक अंग को ही स्पर्श करते हैं जबकि उनके योग की साधना से साधक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसकी समग्र चेतना सच्चिदानन्द स्वरूप परम सत्ता से एकरूपता प्राप्त कर सकती है।

सब कुछ भगवान से, शाश्वत से, अनन्त से शुरू होता है। उसी के अंदर और उसी से टिका हुआ और सब कुछ भगवान में, शाश्वत और अनन्त में अपनी पराकाष्ठा को पहुँचता या समाप्त होता है। हमारी आध्यात्मिक खोज के लिये यह पहला अनिवार्य आधार तत्व है। हम उच्चतम ज्ञान और उच्चतम जीवन को और किसी आधार पर खड़ा नहीं कर पाते। एक गुप्त आत्मा इस अभिव्यक्त जगत का अर्थ और इति है। यहाँ सब कुछ गुप्त रूप से भगवान है। समस्त अस्तित्व एक शाश्वत और अनंत का अस्तित्व है— **एकमेवाद्वितीय**। केवल एक ही है कोई दूसरा नहीं। विश्व में जिस चीज का महत्व है वह है सर्व की अपने अंदर लीला और उसका ज्ञान, आनंद और सत् के अंदर आत्मपरिपूर्ति। हम इनमें से किसी भी चरम प्रतिज्ञान की ओर गति कर सकते हैं लेकिन जो इन सबको स्वीकारता और उनमें सामंजस्य लाता है वहीं परमब्रह्म की उच्चतम मानव अभिव्यक्ति है।

भगवान, आत्मा और प्रकृति ये तीनों मानों एक ही सत्ता के तीन पहलू हैं। अस्तित्व वस्तुओं का सत्य है जो अभिव्यक्ति की धीमी पद्धति से अपने आपको खोल रहा है, अपने अंदर अंर्तलीन सद्वस्तुका विकास है।16

मनुष्य एक संक्रमणशील सत्ता है। वह अंतिम नहीं है बल्कि विकासक्रम की बीच की अवस्था है। उसका अंत मुकुट या पूर्णता प्राप्त श्रेष्ठ कलाकृति नही है। विश्व अमुक परिस्थितियों में धीरे-धीरे खुलते हुये सांमजस्य की भाषा में भगवान की ऐसी ही अभिव्यक्ति है। जो परिस्थितियाँ और गतियाँ सांमजस्य की लय को चलाती हैं वे ही वैश्य विधान है। इस अभिव्यक्ति में दो शब्द हैं—अंर्तलयन और क्रम विकास। भौतिक विश्व का प्रारंभ होता है निश्चेतन शक्ति की गति और जड़ भौतिक के रूपों में भगवान के अंतर्लयन से। **अंतर्लयन** से हमारा तात्पर्य भगवान का अपने आपको एक ऐसे अवरोहण में छिपाना जिसकी सबसे निचली सीढ़ी है भौतिक पदार्थ, और विकास का अर्थ है भगवान का एक ऐसे आरोहण में अपने आपको प्रकट करना जिसकी अंतिम उपरली सीढ़ी है — आत्मा।

अत: विश्व में समस्त सांत जीवन में और उसके पीछे तक अनंत सदवस्तु है जो अपने तक पहुँचने की कोशिश में है जिसे अपने इस आत्मोन्मीलन में जीवन के ऐसे सांत रूपों की रचना करनी होती है जो अपनी चेतना और गति में अनंत को अभिव्यक्त और उपलब्ध कर सकती हो। मनुष्य ऐसा ही सांत अनंत है और धरती पर अभी तक उपस्थित इस प्रकार के जीवन का एकमात्र प्ररूप है।

श्री अरविंद के अनुसार कोई विकास हो सके इससे पहले यह जरूरी है कि जो भागवत सर्व ऊपर उठने वाला है उसका अंतर्लयन हो। अन्यथा विकास न होकर उत्तरोत्तर नयी चीजों का सृजन होगा जो अपने से पहले की चीजों में न होगी। ये एक

दूसरे के बाद अनिवार्य परिणाम या एक क्रम में अनुगामी न होंगीं बल्कि एक अनिर्वचनीय संयोग, लड़खड़ाती भाग्यवान शक्ति या किसी बाह्य सृष्टा द्वारा इच्छित या चमत्कारिक रूप में कल्पित नयी चीजें होंगी। अगर सब कुछ संयोग या निश्चेतन या असंगत शक्ति का खेल होता तो इसका कोई कारण न होता कि अपनी सारी अपूर्णताओं के बावजूद मनुष्य इस निश्चेतन बुद्धि या ऊटपटांग चमत्कार का आखिरी शब्द क्यों न होता। लेकिन चूंकि भागवत आत्मा है और उसकी अभिव्यक्ति ही सारी गति का प्रयोजन है। इसलिये भौतिक द्रव्य से उभरे हुये इस अनुक्रम में एक नयी शक्ति को उभरना चाहिये। हमें मानवता के अपर्याप्त रूप से देवत्व के रूप में, मन से अतिमानस, सांत की चेतना से अनंत की चेतना में, प्रकृति से अतिप्रकृति में प्रवेश करना चाहिये।

हम प्रकृति में देखते हैं कि वह हमेशा अपना अतिक्रमण करने की कोशिश करती है। उसने अभी तक जो कुछ किया है उसके परे जाना चाहती है। पशुता जिस लायक थी वह सब पशु में चरितार्थ करके उसने मनुष्य के अंदर पूर्ण समन्वयात्मक पशु रखने की कोशिश नहीं की। उसने तुरंत पशु से कुछ अधिक चरितार्थ करने की कोशिश की। एक हद तक मनुष्य कई पशुओं का समन्वय है। परंतु पशु के रूप में वह बहुत ही अपूर्ण है। उसकी महानता पशु से कुछ अधिक होने में है और अपनी इस नयी प्रकृति द्वारा वह पशु का अतिक्रमण कर गया है और सभी त्रुटियों की यहाँ तक कि जीवन संघर्ष के क्षेत्र में भी उसने सभी त्रुटियों की पूर्ति कर ली है। वह केवल बराबर वालों में पहला नहीं बल्कि उनका प्रभु बन गया है। अगर कभी वे उसके बराबर के रहे भी हों तो अब तो नहीं हैं।[18]

सत्ता की दो अवस्थाएँ, स्तर या सीमाएँ है जिनके बीच समस्त जीवन रहता और गति करता है। एक है परम चेतना की उच्चतम सीमा सर्वशक्तिमान अतिचेतना

और दूसरी है निम्नतम सीमा परम निश्चेतना एक सर्वशक्तिमान निश्चेतना। चेतना का रहस्य अपने आपको तभी प्रकट करता है जब हम इन दोनों सीमाओ और उनके बीच की गतिविधि को देखते हैं जिसे हम विश्व कहते हैं। अतिचेतन शाश्वता जिसकी ओर हम अभिमुख हैं और अवचेतन अनंता जिसमें से हम उठ रहे हैं- दोनों के हम भाग है और उन्हें मिलाने वाली कड़ी के रूप में उनके बीच खड़े है— ये एक ही सत्ता ही दो विरोधी शक्तियाँ है। तत्वत: वे दोनों एक ही सत्ता है लेकिन हमारी अनुभूति को एक दूसरे की अंधेरी और रिक्त छाया दीखती है। अतिचेतन हमसे छिपा हुआ है, क्योंकि वह अपनी सत्ता के असीम प्रकाश में लिपटा हुआ है और निश्चेतन हमारी खोज से बच निकलता है क्योंकि वह अपने अमेद्य अंधकार के पर्दे में डूबा हुआ है।

अधिकतम अंधकारमय भौतिक द्रव्य और अधिकतम ज्योतिर्मय आत्मा के बीच चेतना के स्तरों का विस्मयकारी सोपान है। विकास अपने उद्देश्य को पूर्णतया सिद्ध करे इससे पहले भौतिक द्रव्य में स्थित चेतना को इस क्रम के शिखर तक चढ़ते जाना होगा और वह हमें जो कुछ देना चाहता है उस सबको लेकर वापिस आना होगा।

बुद्धि का काम वास्तविकता की गहराई नापना नहीं बल्कि गढ़ना और कार्य संचालन करना है। बुद्धि जीवन और वास्तविकता को नहीं समझ सकती। बुद्धि वस्तु के चारों ओर चक्कर काटती है। अंतर्भास वस्तु के अंदर प्रवेश करता है। एक रुक जाता है दूसरा निरपेक्ष में प्रवेश करता है। **महर्षि अरविंद के अनुसार - अतिमानस से मेरा मतलब है ऐसी शक्ति, एक ऐसा स्तर, चेतना की ऐसी व्यवस्था जो न केवल मानव मन से ऊँची है बल्कि उन सब से परे है जिसे मन कहा जा सकता है — एकदम से भिन्न, उच्चतर और विशालतर सारतत्व और चेतना की ऊर्जा।**[19] लेकिन **अतिमानस** से मेरा तात्पर्य है कि — भागवत अभिज्ञता जिसके अंदर नैसर्गिक रूप से सत्य अंतर्निहित होता है। उसके साथ सहज तादात्म्य द्वारा अभिज्ञता उसे जानती और

उस सत्य को अपनी प्रभु शक्ति द्वारा किसी उद्यम या श्रम की आवश्यकता के बिना क्रियान्वित करती है और सहज रूप से प्रेरित करती है। अतिमानस शाश्वत सत्य, चेतना, ऐसा भागवत ज्ञान है जो हमेशा आत्म अनुरक्षित और अपने अधिकार से समस्त अज्ञान के परे उज्जवल रहता है।

अपनी कुछ बाद की कविताओं में **श्री अरविंद** ने इस विश्व चेतना का बड़ा प्रभावकारी वर्णन किया है। यह विश्व चेतना अतिमानसिक परिवर्तन के फलस्वरूप प्रकट होगी[20]—

''मैने विस्तृत संसार को अपने और भी विस्तृत स्व में लपेट लिया है
और देश तथा काल है जिन्हें मेरी आत्मा देख रही है।
मैं दोनों हूँ-देवता और राक्षस, प्रेत और पिशाच,
मैं पवन की गति और जलता सितारा दोनों हूॅ।
समस्त प्रकृति मेरे पालन पोषण में बड़ी हुयी है,
मैं उसका संघर्ष हूँ और चिरन्तर विश्राम भी,
संसार का हर्ष मुझे रोमांचित करता है,
मैं अपने एकाकी हृदय में करोड़ों का दुख वहन करता हूँ,
मैंने सबसे घनिष्ट एकता प्राप्त कर ली है,
फिर भी जो कुछ होता है उससे बंधा नहीं हूँ।
अपने भीतर विश्व का आह्वान लिये हुए,

मैं अपने अविनाशी गृह को चला जाता हूँ।

मैं बेमाप पंखों पर काल और जीवन के परे संक्रमण करता हूँ।

फिर भी जन्मी और अजन्मी वस्तुओ से एकाकार हूँ।''21

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि समस्त आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न प्राणियों के जीवन की रूपरेखा प्राय: मिलती जुलती होगी, फिर भी विविधता समाप्त नहीं हो जायेगी। इसे स्पष्ट करते हुये **श्री अरविंद कहते हैं कि ''अतिमानसिक या आध्यात्मिक ज्ञानसम्पन्न प्राणियों की जाति एक ही प्रकार से बनी हुयी, एकमात्र स्थायी रूप से ढली हुयी जाति नहीं होगी, क्योंकि अतिमन का नियम है अनेकता में परिपूर्ण एकता, और इसी लिये विश्वचेतना की अभिव्यक्ति अनन्त विविधता में होगी, यद्यपि अपने आधार में, अपने विधान में अपने सर्व उद्घाटक और सर्वसंयोजक क्रम में चेतना एक ही होगी।**22 अतिमानसिक परिवर्तन हो जाने पर विविधता, प्रतिद्वन्द्विता या संधर्ष की प्रस्तावना नहीं बनेगी (जैसी कि अभी स्थिति है), किंतु वह सामंजस्य के एक प्रमुख सिद्धान्त का कार्यक्षेत्र होगी। इस अवस्था में प्रकाश एवं अंधकार के बीच संघर्ष का स्थान, प्रकाश से अधिकतर प्रकाश की ओर प्रगति ले लेगी और एक श्रेष्ठतर जीवन व्यवस्था स्थापित होगी। इस प्रकार वस्तुत: आध्यात्मिक ज्ञान संपन्न प्राणियों के स्तर पर आरोहण मानव के लिये पृथ्वी पर दिव्य जीवन की स्थापना होगी। महर्षि अरविंद के अनुसार मानव चेतना हर दिशा में सीमित है। वह स्वयं को नहीं जानती, वह अपने चारों तरफ के जगत को नहीं जानती लेकिन वह हमेशा अपनी सत्ता से सत्य को जानने की, पाने की, अपने जीवन के उचित उपयोग की, उस ध्येय को जानने की कोशिश करती है जिसकी ओर उसके अंदर की प्रकृति उसे खींचती है। यह काम खोजने और खराब भूले करने वाली क्रिया के साथ करती है। मनुष्य की चेतना ऐस

अज्ञान है जो ज्ञान की ओर बढ़ने के लिये संघर्ष कर रहा है। वह एक दुर्बलता है, जो स्वयं को शक्ति के लिये प्रशिक्षित कर रही है वह हर्ष और दुख दर्द की वस्तु है जो सत्ता के सच्चे आनंद की ओर हाथ बढ़ा रही है।

जब मन चुप होता है तो सत्य को नीरवता की पवित्रता में अपनी बात सुनाने का अवसर मिलता है। सत्य को मन के विचार द्वारा नहीं, केवल तादात्म्य और नीरव दर्शन द्वारा पाया जा सकता है। सत्य शाश्वत देशों के स्थिर निःशब्द प्रकाश में रहता है। वह तर्कपूर्ण विवाद के शोर और बकवास में हस्तक्षेप नहीं करता।[23]

मन में विचार अधिक से अधिक सत्य का चमकदार और पारदर्शक बसन हो सकता है। वह उसका शरीर तक नहीं है। बसन को नहीं उसके आर-पार देखो तो शायद तुम उसके रूप का कुछ संकेत पा सको। अतिमानसिक विचार सत्य तक पहुँचने का साधन नहीं है, उसे व्यक्त करने का एक तरीका है, क्योंकि अतिमानस में सत्य स्वयं अपने ऊपर आधारित या स्वयंभू होता है यह प्रकाश से निकला बाण होता है, उस तक पहुँचाने वाला सेतु नहीं। भीतर से विचार और शब्द को बंद कर दो, अपने अंदर निश्चल रहो ऊपर प्रकाश को और बाहर की ओर विस्तृत वैश्व चेतना को देखो जो तुम्हारे चारो ओर है। ज्योति और विस्तार के साथ अधिकाधिक एक हो। तब ऊपर से तुम्हारे लिये सत्य का उदय होगा और वह चारों ओर से तुम्हारे अंदर प्रवाहित होगा।

जो लोग मानव शिखरों पर पहुँच चुके हैं उनमें से बहुत से मन से अधिक महान चेतना का एक झोंका पा चुके हैं और ऊपर से जो चमक आयी है उसे उन्होंने बोधि, अंतर्भास, विज्ञान आदि कई नाम दिये है। लेकिन ये चीजें उस महत्तर प्रकाश की हल्की सी धार है जिसे मन नामक पांडुर धुंधलके में घुसाया गया है। मनुष्य का श्रम तभी समाप्त हो जब मन और अतिमन के बीच का ढक्कन पूरी तरह फाड़कर

अलग कर दिया जाये, दिव्य विज्ञान के सूर्य की शक्ति पूरे बेग के साथ नीचे आ सके, मन से होकर टपकती हुयी, घटी हुयी मुड़ी हुयी किरणों की तरह नहीं और मनुष्य के समस्त मन, प्राण और शरीर को रूपांतरित कर दे तभी भागवत लीला और स्वयं अपना निर्माण करती हुयी मुक्त आत्मा का मुक्त प्रवाह शुरू होगा।

जैसे मनुष्य पशु के मन-प्राण के स्तर से ऊपर उठ गया है, उसी तरह हमारी मानवता के मानसिक स्तर से इस उच्चतर चेतना में उठना, मन से अतिमन में, धुंधलके से प्रकाश में, मन की अर्द्धचेतना में से जो अभी अतिचेतना है उसमें प्रवेश करना, संकरे बंदी अहंकार में से परात्पर और वैश्व बने हुये व्यक्ति में संघर्षरत, अर्द्धसमर्थ से सिंहासनारूढ़ प्रभुशक्ति में, थोड़े बहुत क्षणिक सुख-दुख में से अमिश्रित भागवत आनंद में प्रवेश करना हमारी यात्रा का लक्ष्य, हमारे संघर्ष का रहस्य है। विज्ञानमय अतिमानव ही इस धरती का भावी स्वामी और इस महान वैश्व पहेली की अस्पष्ट परिभाषा में से भागवत अर्थ का ज्ञाता है।

अरविंद के अनुसार वस्तुतः सच्चा मनुष्य है और साथ ही यह भी है जो प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष है यह अपूर्ण और संघर्ष करती हुयी मानवता, वास्तविक है पुरूष, हमारे अंदर की सचेतन सत्ता। हमारे अंदर की सचेतन सत्ता जो उस सत्ता के साथ एक है जिसमें हम निवास करते और विचरते हैं। वही वास्तव में अस्तित्व का कारण, आरंभ, अंत और लक्ष्य है। लेकिन हमारी मानवता हमारे अंदर स्थित सचेतन सत्ता कीअस्थायी स्थिति मात्र है। मनुष्य अंतिम नहीं है।

महात्मा गाँधी :- अनेक पुस्तकों में महात्मा गाँधी के चुने हुये लेखों तथ व्याख्यानों से उनके विचारों का संग्रह किया गया है। गाँधी जी ने नीति पर हमेशा जोर दिया था और वैयक्तिक, सामाजिक, तथा राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नीति क

समावेश करने का प्रयत्न किया था। नीति मार्ग पर चलना आसान नहीं है उसके लिये कठोर साधना की आवश्यकता होती है। ये पुस्तकें उसी राजमार्ग पर चलने को न केवल प्रेरित करती है अपितु उसके लिये अपेक्षित बल और साहस भी देती है।

गॉधी दर्शन का मूलभूत विश्वास है कि प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी एक अपरिवर्तनीय नियम से संचालित है और वह नियम ईश्वर है जिसे गाँधी सत्य के रूप में मानते हैं। गाँधी जी के अनुसार जिसने इस सत्य के प्रति प्रेम और निष्ठा द्वारा इसे अपने हृदय में स्थापित करने में सफलता पा ली है, उसे मैं हजार बार नमस्कार करता हूँ। सत्य की भावना से ओत-प्रोत जीवन स्फटिक की भाँति पारदर्शी और शुद्ध होना चाहिये। ऐसे व्यक्ति की उपस्थिति में असत्य एक क्षण के लिये भी नहीं टिक सकता। सत्य के मार्ग पर चलने का प्रयास करने वाले लाखों आदमियों में से केवल बहुत थोड़े लोग ऐसे होंगे, जो अपने वर्तमान जीवन में पूरी तरह सफल हो जायें। **जब तक मनुष्य अपनी नगण्यता को नहीं जानता तब तक ही गर्व से उसका फूल उठना संभव है लेकिन जैसे ही आदमी एक बार अपनी नगण्यता को देखता है उसका अभिमान चूर हो जाता है।**[24] सत्य बिना प्रेम के नहीं टिक सकता। सत्य को जानने वाले व्यक्ति का व्यभिचारी होना उतना ही अकल्पनीय है जितना सूर्य के चमकते हुये भी अंधेरे का बना रहना। मेरी हार्दिक इच्छा है कि इस पवित्र यज्ञ में हम सब सिद्धान्त के रूप में सत्य का अनुसरण करना सीखें।

मेरी विनम्र सम्मति में अंहिंसा को सच्चे अर्थो में समझा जाय, तो वह लौकिक तथा पारलौकिक सारी बुराइयों के लिए रामबाण है।[25] इसके आचरण में अति कदापि संभव नहीं। सारा समाज अंहिसा के द्वारा ही एक सूत्र में बँधा हुआ है जैसे कि पृथ्वी गुरूत्वाकर्षण के कारण अपनी स्थिति में रहती है लेकिन जब गुरुत्वाकर्षण के नियम का पता चला तो इस अविष्कार से वे परिणाम निकले, जिनका हमारे पूर्वजों को कोई

ज्ञान नहीं था। इसी प्रकार जब समाज का अंहिसा के नियम के अनुसार स्वेच्छा से निर्माण होगा तब उसका ढाँचा आज के भौतिक उपकरणों से भिन्न होगा। लेकिन मैं पहले से यह नहीं कह सकता कि पूर्णतया अंहिसा पर आधारित सरकार किस प्रकार होगी। अंहिसा साधन है। प्रत्येक राष्ट्र के लिये साध्य पूर्ण स्वाधीनता है। अंहिसा आधारित समाज में सबसे छोटा राष्ट्र भी उतना ही बड़ा अनुभव करेगा। हीनता और बड़प्पन की भावना एकदम समाप्त हो जायेगी।

जीवन के साधारण मामलों में हम उन मनुष्यों की बात पर भरोसा कर लेते हैं, जिन पर हम निर्भर रहना पसंद करते हैं हालांकि हम अकसर धोखा खाते हैं। तब हम जीवन और मरण के मामले में सारी दुनिया के संतों के इस कथन को क्यों नहीं स्वीकार कर लेते कि ईश्वर है और सत्य तथा निष्कपटता अर्थात् अंहिसा के द्वारा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। मैं साहस के साथ कह सकता हूँ कि श्रद्धा और विश्वास न रहे तो दुनिया में पल भर में प्रलय हो जाय। सच्ची श्रद्धा का अर्थ है उन व्यक्तियों के युक्तियुक्त अनुभव का आदर करना, जिन्होंने प्रार्थना और तपस्या से पवित्र जीवन व्यतीत किया है। इसलिये प्राचीन काल के पैगम्बरों और अवतारों में विश्वास करना व्यर्थ का वहम नहीं है बल्कि अन्तरात्मा की आध्यात्मिक भूख की संतुष्टि है।

''यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि सांप चीते आदि हमारे विषैले, नीच, गंदे, विचारों के ईश्वर द्वारा बनाये हुये जवाब है। मेरा विश्वास है कि सभी जीव एक से हैं। विचार निश्चित रूप ग्रहण करते हैं। चीते और सांपों का संबंध हमसे है। वे हमारे लिये चेतावनी है कि हम बुरे, दुष्ट विकारयुक्त विचार न रखें।'' 26 यदि मैं इस धरती को जहरीले जानवरों और जहरीले सरीसृपों से मुक्त चाहता हूँ तो मुझे अपने अंदर से सारे विषैले विचार निकाल देने चाहिये।

शान्ति का मार्ग सत्य का मार्ग है। सत्यवादिता शान्तिवादिता से अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में झूठ बोलना हिंसा की जननी है। सत्यवादी मनुष्य अधिक समय तक हिंसक नहीं रह सकता। सत्य और अहिंसा तथा असत्य और हिंसा इनके बीच मध्यम मार्ग नहीं है। हम भले ही कभी इतने मजबूत न हों कि मन, वचन, और कर्म से पूरी तरह अहिंसा का पालन करें, लेकिन अहिंसा को हमें अपना लक्ष्य बनाकर रखना चाहिये और उसकी ओर लगातार बढ़ना चाहिये। इसलिये जिनका विश्वास हो कि वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्त करने का एकमात्र तरीका अंहिसा है उन्हें वर्तमान अभेद्य अंधकार के बीच अहिंसा की मशाल को प्रज्जवलित रखना चाहिये।' थोड़ों का सत्य अपना महत्व रखेगा। करोड़ों का असत्य वैसे ही उड़ जायेगा जैसे हवा के आगे तिनका। जीवन का संचालन अनेक शक्तियों द्वारा होता है यदि कोई ऐसा सर्वमान्य नियम होता, जिसका प्रयोग करते ही प्रत्येक प्रसंग में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करने के लिये क्षण भर भी सोचना न पड़ता तो क्या ही सरलता होती।

मनुष्य में, भले ही वह कितना ही बुरा और पतित क्यों न हो, ऊँचाई के उस चरम शिखर तक पहुँचने की क्षमता है जिस तक किसी भी जाति या वर्ण का कोई भी व्यक्ति पहुँच सकता है। सर्वोत्तम रूप में भाषा मनुष्य के विचारों को पूरी तरह व्यक्त करने में अक्षम होती है। मेरे लिये अंहिसा कोरा दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है, वह मेरे जीवन का नियम और साँस है। भगवान पर सतत् भरोसा रखने, अत्यंत विनयशील होने, आत्मनिषेध करने और हर घड़ी आत्मत्याग की तैयारी रखने से सच्चा मार्ग-दर्शन मिलता है। इसकी साधना में सबसे ऊंचे दर्जे की निर्भीकता और साहस की आवश्यकता होती है।

गाँधी जी के अनुसार ''**मैं जानता हूँ कि प्रतिज्ञा और व्रत दुर्लभ अवसरों पर लिये जाते हैं, लिये जाने चाहिये। जो व्यक्ति उठते बैठते प्रतिज्ञा लेता रहता है वह**

अवश्य गिरता है।[26] किसी गंभीर कदम को बहुत सावधानी और सोच विचार के बाद उठाने में बुद्धिमानी है लेकिन सावधानी और झिझक की भी हद होती है। यदि हम अपने चारों ओर सुलगते दावानल का मुकाबला करने में अपना सब कुछ दाँव पर न लगा दें और हाथ पर हाथ धरे बैठे देखते रहे तो हम अपने को अयोग्य और कायर ही सिद्ध करेंगे। इसलिये इसमें संदेह नहीं कि शपथ लेने का यह उपयुक्त अवसर है। हर आदमी अपने ही हृदय को टटोले और यदि उसकी अंतरात्मा उसे भरोसा दिलाये कि उसमें शपथ लेने की अपेक्षित शक्ति है तभी वह शपथ ले और तभी शपथ फलदायक होगी। हरेक को अपनी जिम्मेदारी को पूरी तरह समझकर स्वतंत्र रूप से प्रतिज्ञा लेनी चाहिये और यह जान लेना चाहिये कि दूसरे कुछ भी करें पर वे मरते दम तक अपनी प्रतिज्ञा का पालन करेंगे।

सत्याग्रही के लिये पहली आवश्यक चीज सत्य का पालन, सत्य में निष्ठा होनी चाहिये। सत्याग्रह वही कर सकता है जिसकी धर्म में सच्ची निष्ठा है। मुख में राम बगल में छुरी निष्ठा नहीं है। धर्म का नाम लेकर भी उसी की शिक्षा के विरुद्ध आचरण करना धर्म नहीं है। दूसरे शब्दों में जो सब कुछ ईश्वर पर छोड देता है उसकी इस संसार में हार हो ही नहीं सकती। यह सत्याग्रह का सच्चा स्वरूप है।

अपने जीवन में मैं हर घड़ी विचार, वाणी और कर्म में आवश्यक पवित्रता पैदा करने की कोशिश कर रहा हूँ। जो स्थिति है, उसमें मैं मानता हूँ कि मैं बहुत से विकारों के वशीभूत हो जाता हूँ, जिन्हें मैं दुष्कृत्य मानता हूँ। उन्हें देखकर या उनके बारे में सुन कर मेरे दिल में क्रोध भभक उठता है। अपने लिये मैं विनम्रता से केवल इतना दावा कर सकता हूँ कि इन विकारों और मनोंभावों को बहुत कुछ काबू में किये रहता हूँ और उन्हें अपने ऊपर हावी नहीं होने देता।[28]

जब सत्याग्रह तोड़ दिया जाता है तो उससे प्राप्त वस्तु भी निश्चित रूप से टूट जाती है। सत्याग्रह से पाई चीज को भौतिक बल से रोके रखना असंभव है। सत्याग्रह वास्तव में मन की एक स्थिति है। जिसके मन की स्थिति सत्याग्रही की बन गयी, वह हमेशा, हर जगह और हर परिस्थिति में, विजयी ही रहेगा भले ही उसके विरोध में सरकार हो या जनता, अपरिचित हो या मित्र अथवा संबंधी।

चिंतन करने पर हमें पता चलता है कि संसार में जिसे लोग सफलता मानते हैं, वह अधिकांशत: वास्तविक सफलता नहीं होती। कभी-कभी जीत की अपेक्षा वह हार की निशानी होती है, ऐसा कहने में कोई अतिश्योक्ति नहीं है। यदि कोई अपने घर में चोरी करने की इच्छा से निकलता है और काफी प्रयत्न करने के बाद अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है, तो यह उसकी दृष्टि से सफलता गिनी जा सकती है, पर विचार करने पर हम यह अनुभव करते हैं कि उसकी सफलता वास्तव में उसकी पराजय थी। यदि वह असफल हो गया होता तो वह उसकी सच्ची सफलता होती। आदमी के जीवन में ऐसे सैकड़ों अवसर आते हैं जब वह सही और गलत के बीच आसानी से भेद नहीं कर पाता। इसलिये यह निश्चय करना कठिन है कि आदमी के ध्येय की प्राप्ति वास्तव में उसकी हार है या जीत। परिणाम किसी के हाथ की चीज नहीं है।29

सारे धर्म सिखाते हैं कि दो विरोधी शक्तियाँ हम पर अपना प्रभाव डालती है। मानव का प्रयत्न सनातन अस्वीकृति और स्वीकृति के अनुक्रम में निहित है। बुराई के साथ असहयोग उतना ही आवश्यक कर्त्तव्य है जितना भलाई के साथ सहयोग। कभी - कभी हम हर्ष विभोर होकर आवेश में किसी काम को कर डालते हैं, बाद में उसके लिये पछताना पड़ता है। व्रत एक विशुद्ध धार्मिक कृत्य है, जो आवेश में नहीं लिया जा सकता; वह मन को शुद्ध और शान्त करके तथा ईश्वर को साक्षी रखकर ही लिया जा

सकता है। साधारण संयम से जो काम संभव नहीं होते, वे व्रतों की सहायता से, जिनके लिये असामान्य संयम जरूरी होता है, संभव हो जाते हैं। इसलिये विश्वास किया जाता है कि व्रत ही ऊपर उठा सकते हैं। यदि हिन्दू और मुसलमान जातियाँ आपस में मित्रता के सूत्र में बांधी जा सकें और यदि एक का दूसरे के प्रति ऐसा व्यवहार हो जाये जैसा माँ जाये भाइयों का होता है, तो वह स्पृहणीय सिद्धि होगी। लेकिन इस एकता के चरितार्थ होने से पहले दोनों जातियों को भारी त्याग और अब तक के विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करना होगा।

प्रत्येक को दूसरे के धर्म का आदर करना चाहिये और एकान्त में भी दूसरे का बुरा चाहने से बचना चाहिये। हमारे व्रत का तभी मूल्य होगा जबकि हिन्दू और मुसलमान बहुत बड़ी संख्या में इस प्रयत्न में सम्मिलित होंगे। यदि सामूहिक रूप में लोग व्रत लेते हैं तो मेरी विनम्र सम्मति में वह इस प्रकार होना चाहिये :-

''ईश्वर को साक्षी रखकर हम हिन्दू और मुसलमान घोषित करते हैं कि हम एक दूसरे के साथ ऐसा व्यवहार करेंगे, जैसे एक ही माता पिता के बच्चे करते हैं। हम भेदभाव नहीं करेंगे। एक का दु:ख दूसरे का दु:ख होगा और उस दु:ख को दूर करने में हम एक दूसरे की सहायता करेंगे। धर्म के नाम पर हम एक दूसरे के प्रति हिंसा से बचेंगे।''[30] अस्पृश्यता हिन्दू धर्म पर सबसे बड़ा कलंक है। वह शास्त्रों के विरुद्ध है, वह मानवता के मूलभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध है। यह समझना बुद्धि से परे है कि केवल जन्म के कारण कोई मनुष्य अछूत माना जाय, उसे निकट आने और देखने योग्य भी न समझा जाये। ये विशेषण उसके अर्थ को पूरी तरह प्रकट नहीं करते। कुछ पुरूषों, स्त्रियों और बच्चों के लिये छूना या निश्चित सीमा के भीतर पैर रखना अथवा उन व्यक्तियों द्वारा देखा जाना जो अपने को सवर्ण हिन्दू कहते हैं, अपराध है।[31]

मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार भंगी को गंदा करने वाला मैल शारीरिक है और आसानी से दूर किया जा सकता है, लेकिन कुछ लोगो पर असत्य और पाखण्ड का मैल चढ गया है और वह इतना सूक्ष्म है कि उसे साफ बडा कठिन हैं। यदि कोई अछूत है, तो वे लोग है जो असत्य और पाखण्ड से भरे हैं।

गॉंधी जी के अनुसार जो हो, उन सवर्ण हिन्दुओं को, जो छुआछूत को हिन्दू धर्म पर कलंक मानते हैं, अस्पृश्यता के पाप का प्रायश्चित करना ही होगा। इसलिये हरिजन मन्दिर प्रवेश चाहे या न चाहें, सवर्ण हिन्दुओं को अपने मन्दिरो को हरिजनो के लिये ठीक उन्ही शर्तो पर खोल देना चाहिये, जो दूसरे हिन्दुओ पर लागू होती है। मन्दिर प्रवेश वह आध्यात्मिक कार्य हैं, जो अस्पृश्यों को स्वतत्रता का संदेश देगा और उन्हें आश्वस्त करेगा कि वे परमेश्वर के आगे अछूत नही है।

कहते हैं कि जब काम करने की तैयारी न हो तो अपनी जुबान पर ताला डाल रखने मे ही बहादुरी है, बुद्धिमानी तो बेशक है ही। बिना तदनुरूप कार्य के कोरे जोरदार भाषण, भाप को बेकार उड़ा देने के समान हैं। और तेज से तेज भाषा भी फीकी पड़ गयी, जब 1920 में देशभक्तों ने जोशीले भाषणो की बनिस्वत जेल जाना सीखा। बोलना उनके लिये जरूरी है जिनकी बोलती बद हो गयी हो। वाचाल के लिये संयम जरूरी है।

मैं मानता हूॅं कि बुरा बोलना या बुरा काम करना ही भयकर वीमारी है। ईश्वराय नियम इतने सूक्ष्म है और उनका पालन करना इतना कठिन है कि अनजाने में की गयी भूलो से भी अपने को बचाने मे आत्मा का आरोग्य और कल्याण निहित है। जिस व्यक्ति का बहुत सा समय सोचने में जाता है, जो हृदय की गरहाई मे पैठकर नई-नई खोजे करना चाहता हो उसे अल्पाहारी होना ही चाहिये। उसे दुबले होने से नही

डरना चाहिये। "**स्वाद को जीतने में असफल होना ही ईश्वर के प्रति अपराध है।**" 32 तात्पर्य यह है कि मनुष्य मनोविकारो को जीतकर ही नीरोग बन सकता है। यदि वह इस प्रयत्न में असफल होता है तो इसमे घबराये नही बल्कि अपने प्रयत्नो को जारी रखे। अपने फल की सिद्धि न होने पर वह हताश न हो, बल्कि अपनी निष्ठा को बनाये रखकर प्रयास करता रहे।

अगर मैं जान की बाजी लगाकर बुराई के विरुद्ध संघर्ष नही करूंगा तो मैं ईश्वर को कभी नहीं जान सकता। मेरी श्रद्धा का कवच तो मेरा अपना ही नम्र सीमित अनुभव है। मैं जितना ही शुद्ध बनने का प्रयत्न करता हूॅं। उतना ही ईश्वर के निकट अपने को अनुभव करता हूॅं। जब मेरी श्रद्धा जिस दिन हिमालय के समान अटल और उसके शिखरों के हिम की भाँति शुभ्र और चमकीली हो जायेगी उस दिन मैं ईश्वर के कितना अधिक निकट होऊँगा। जैसा कि **न्यूमैन** की इन पंक्तियो से उद्धृत होता है33—

"लिये चलो ज्योतिर्मय मुझको सघन-तिमिर से लिये चलो,

रात अंधेरी, दूर गेह है, मुझे सहारा दिये चलो।

थामो ये मेरे डगमग पग

दूर दृश्य चाहे न चले दृग

मुझे अल है देव, एक डग।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अंतरात्मा की बात कहने से पहले अपनी मर्यादाओं को समझ लेना चाहिये। अत: अनुभव के आधार पर हमारा विश्वास है कि जो सत्य रूपी ईश्वर की निजी खोज करना चाहते हैं, उन्हें कुछ बातों का पालन करना होगा। उदा०- सत्य का व्रत, सत्य की शपथें, ब्रह्मचर्य, पवित्रता का व्रत; क्योंकि हम सत्य

और ईश्वर के प्रति अपने प्रेम का बटवारा संभवतः और किसी के साथ नही कर सकते।

जो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते वे शरीर को छोड़कर और किसी बात के अस्तित्व मे विश्वास नहीं करते। मानवता की प्रगति के लिये ऐसा विश्वास करना आवश्यक माना जाता है। ऐसे व्यक्तियो के लिये आत्मा या ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण मे भारी से भारी तर्क भी व्यर्थ है। जिस मनुष्य ने अपने कानो को बद कर लिया है, उसे आप बढिया से बढ़िया संगीत भी नहीं सुनवा सकते, उसकी सराहना तो भला वह क्या करेगा। इसी प्रकार हम उन लोगों को भी प्रत्यक्ष ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नही दिला सकते जो विश्वास नही करना चाहते। हो सकता है जिन चीजों को हम गलती से शोक, अन्याय या वैसा ही कुछ मानते हैं, वे वास्तव मे वैसी न हों। यदि हम सृष्टि के सारे रहस्यों को सुलझा सके तो हम ईश्वर के समक्ष होगे। सागर की प्रत्येक बूॅद उसके वैभव की साझीदार होती है, लेकिन वह सागर नही होती। अपने इस छोटे से जीवन की अल्पता का अनुभव हमें इस श्लोक मे दृष्टिगोचर होता है—

विपदो नैव विपदः संपदो नैव सम्पदः

विपद्विस्मरण विष्णोः सपन्नारायण स्मृतिः॥[34]

अर्थात् जिसे हम विपदा कहते हैं वह विपदा नहीं है, न सम्पदा है, ईश्वर को भूलना सच्ची विपदा और उसका स्मरण सच्ची संपदा है।

मनुष्य बुद्धि से नही हृदय से संचालित होता है। हृदय उस निष्कर्ष को स्वीकार कर लेता है जिसके लिये बाद में बुद्धि तर्क निकालती है।[35] पहले विश्वास, फिर तर्क। मनुष्य जो कुछ करता है, करना चाहता हैं उसके समर्थन मे प्रमाण भी ढूंढ निकालता है। बिना क्रोध, राग या द्वेष के हिसा असभव है और गीता

हमें सत्व, रजस, और तमस की उस स्थिति से परे ले जाने का प्रयास करती है जिसमे क्रोध, घृणा आदि का अभाव होता है।

जिस व्यक्ति में सदाचरण का अभाव होता है, वह विवेकशील नहीं होता और जहॉ विवेक का अभाव होता है वहॉ कुछ भी नही होता। विनय और नम्रता अहिंसा की भावना की निशानी हैं, जबकि अविनय और उद्धतता हिसा की भावना की सूचक है। इसलिये असहयोगी को कभी अविनयी नहीं होना चाहिये।

जहॉ अह है वहाँ अविनय और उद्धतता है, जहॉ अह नही है वहॉ हमें सभ्यता के साथ स्वाभिमान की भावना मिलेगी। अहभाव रखने वाले को अपने शरीर पर बडा घमड होता है। स्वाभिमानी व्यक्ति आत्मा को पहचानता है, उसी का सदा ध्यान रखता है और उसकी उपलब्धि के लिये अपने शरीर का बलिदान करने को तैयार रहता है। जो अपने स्वाभिमान को मूल्यवान मानता है, वह दूसरों के साथ मित्रता पूर्ण व्यवहार करता है, क्योंकि वह दूसरे के स्वाभिमान को भी उतना ही मूल्यवान समझता है। वह सबमें अपने को और अपने मे सबको देखता है। अहकारी अपने को दूसरों से अलग रखता है और बाकी की दुनिया से अपने को ऊँचा मानकर दूसरो का काजी बनता है और उसके ही फलस्वरूप दुनिया को अपने हल्केपन को नापने का अवसर देता है। गांधी जी कहते हैं कि अन्याय करने वाले को अपने अन्याय का भान हो और वह उसका निराकरण करें, तब तक हमें प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। इस डर से कि हमारे इस आचरण से हमे या दूसरों को यातना भोगनी पड़ेगी, हमें उस अन्याय में भागीदार नहीं होना चाहिये। इसके विपरीत अन्याय करने वाले के साथ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहयोग न करके अन्याय का मुकाबला करना चाहिये।

हमे और हमारे बच्चो को अपनी निजी विरासत पर निर्माण करना है। यदि हम दूसरो की विरासत को लेते है तो अपने को नष्ट करते हैं। विदेशी सामग्री पर हम कभी उन्नति नही कर सकते। मैं चाहता हूँ कि राष्ट्र अपनी भाषा के कोष को भरे इसके लिये ससार की अन्य भाषाओ का कोष भी अपनी ही देशी भाषाओं में संचित करे। हमारी इस झूठी अभारतीय शिक्षा से लाखो व्यक्तियो की बढती हुयी और लगातार हानि हो रही है।

इतना मैं आदर के साथ कहूँगा कि दूसरी सस्कृतियो का गुण या मान अपनी सस्कृति के बाद मे तो आवश्यक हो सकता है, पहले कदापि नही। मेरी निश्चित राय है कि हमारी सस्कृति का भण्डार जितना भरा-पूरा है उतना और किसी का नहीं है। हमने उसे जाना नही है। हमने उसके अनुसार जीना छोड दिया है। बिना आचार के कोरा ज्ञान वैसा ही है, जैसा मोमिया लगा हुआ शव। यह देखने मे तो शायद सुन्दर होता है, परतु उसमे स्फूर्ति देने या ऊपर उठाने वाली कोई बात नहीं होती। अतः **हमारे धर्म के अनुसार न तो हमें दूसरी संस्कृतियों को तुच्छ मानना है और न ही अपनी संस्कृति की अवमानना करनी है, क्योंकि ऐसा करने का अर्थ है सामाजिक दृष्टि से आत्म हत्या कर लेना।**[36]

प्रत्येक भारतवासी का कर्त्तव्य है कि वह इस बात से ही सतुष्ट न हो जाये कि अपने और अपने परिवार के खाने पहनने के लिये काफी कमा लिया तो सब कुछ कर लिया। उसे अपने समाज की भलाई के लिये भी दिल खोलकर धन देने के लिये तैयार रहना चाहिये। साहस और धीरज ऐसे गुण है जिनकी कठिन परिस्थितियो मे पड़ जाने पर हर किसी को आवश्यकता होती है।

मनुष्य की सच्ची परीक्षा विपत्ति में ही होती है और ऐसे समय में रोने-धोने से घाव नहीं भरा करते। आखिर मनुष्य परिस्थितियों का दास है।[37] अतः परिस्थितिवश

वह बिल्कुल अनजाने कुछ ऐसे काम कर डालता है जो अनुचित हैं। तब क्या हमारे लिये यह उचित नही है कि हम उसके विपक्ष में कोई निर्णय करते समय उदारता से काम लें। हम ऐसे राष्ट्र के लोग हैं जो धर्म चितन करते है और निष्क्रिय प्रतिरोध तथा बुराई के बदले भलाई करने के सिद्धान्त मे निष्ठा रखते है। हम तो यहाँ तक दृढता-पूर्वक कह सकते है कि हमारे विचार भी उन व्यक्तियों के कामो पर असर डालते हैं जिनके बारे मे हम सोचते हैं। **उदा०**- गलत कार्य करने वाले व्यक्ति के चेहरे से दुष्कर्म और अच्छे कार्य करने वाले व्यक्ति के चेहरे पर शुभ कार्य की झलक मिलती है।

इस तरह मनुष्य अपने कार्यो से लोगो को आकर्षित करता या दूर हटाता पाया जाता है। इसलिये हम यह परम-कर्त्तव्य मानते है कि हमारे विचार से जो हमारे साथ बुरा व्यवहार करते है उनके प्रति भी हम अपने दिल में बुरे विचार न आने दे। जो हमारे साथ भलाई करते हैं उनके साथ हम भलाई करे तो इसमें कौन बड़े सद्‌गुण की बात है।

''मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि प्रेम के आगे आँखे मूंदकर आत्मसमर्पण कर देना प्रायः अत्याचारी के अत्याचार को लाचार होकर स्वीकार करने की अपेक्षा अधिक अनिष्टकर होता है। अत्याचारी के गुलाम की मुक्ति की आशा होती है। परंतु प्रेम के गुलाम की नहीं।[38] मैं विकास चाहता हूँ, आत्म निर्णय का अधिकार चाहता हूँ, मैं स्वतंत्रता चाहता हूँ, लेकिन ये सब चीजें आत्मा की खातिर चाहता हूँ। हमें अपनी बौद्धिक शक्ति और अन्य सब शक्तियो का उपयोग आत्मा के विकास के लिये करना है।

जो अर्थव्यवस्था व्यक्ति या राष्ट्र के नैतिक हित को चोट पहुँचाती है, वह अनैतिक है और इसलिये पापपूर्ण है। इस प्रकार जो अर्थव्यवस्था एक देश को दूसरे देश को लूटने की छूट देती है वह अनैतिक है।

भारतीय आकाश के तले मानव-पक्षी रात को सोने का बहाना करते समय जितना दुर्बल होता है, उससे अधिक सुबह उठते समय होता है। यहाॅ करोडों लोगो का जीवन सतत् जागरण अथवा सतत् सज्ञा शून्यता का जीवन है। यह ऐसी दुखद स्थिति है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता और उसकी अनुभूति तभी हो सकती है, जब कोई उसे स्वय भोगकर देखे।

''जीवन में हमें ऐसे अवसर प्राप्त होते रहते हैं, जबकि कुछ बातों में बाहरी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। हमारी अंतरात्मा से ध्वनि आती है- तुम सही रास्ते पर हो। न अपने बाएॅ मुड़ो न अपने दायें, सीधी और पतली पगडंडी पर बढ़ते चले जाओ।'' [39] इस प्रकार की सहायता के सहारे हम धीमें ही सही लेकिन आगे की ओर निश्चित और मजबूत कदमों से बढते ही जाते हैं। यही मेरी स्थिति है।

प्रत्येक मनुष्य को जीने का अधिकार है और इसलिये उसे पेट भरने के लिये भोजन और जहाॅ जरूरी हो वहाँ तन ढकने के लिये कपडा और रहने के लिये मकान पाने का हक है। लेकिन इस मामूली काम के लिये अर्थशास्त्रियो और उनके नियमो की जरूरत नही है। ससार के सभी धर्म ग्रंथो का मत्र है—''कल की चिन्ता मत करो''। सभी सुव्यवस्थित समाजों में रोटी कमाना दुनिया की सबसे आसान बात होनी ही चाहिये और होती है। वास्तव में किसी भी देश की सुव्यवस्था की कसौटी यह नहीं है कि उसमें कितने लखपति है। बल्कि यह है कि उसकी जनता मे कोई भूखा तो नहीं रहता। मेरी कामना है कि आप और हम दैवी सम्पदा का संचय करें और उसे अपने जीवन मे उतारे।

प्रत्येक व्यक्ति के पास इतनी सम्पत्ति होनी चाहिए कि वह अपनी सारी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, अधिक नही। **उदा०**- यदि किसी का

हाजमा कमजोर है तो उसे रोटी के लिये केवल चार औस आटे की जरूरत है तो दूसरे को एक पौंड की। तो दोनों के पास अपनी इच्छाओ की पूर्ति के लिये सुविधा होनी चाहिये। इस आदर्श को चरितार्थ करने के लिये सम्पूर्ण समाज व्यवस्था की पुनर्रचना होनी आवश्यक है। किसी भी एक व्यक्ति के लिये जीवन के इस मार्ग को, बिना, दूसरों के वैसा करने के लिये प्रतीक्षा किये बिना अगीकार करना पूर्णतया सभव है। और यदि एक अकेला व्यक्ति आचरण के कुछ नियमों का पालन कर सकता है तो इससे यह फल निकलता है कि व्यक्तियो का समूह भी ऐसा कर सकता है। यदि लोगो को ऐसा लगता है कि किसी उद्देश्य की पूर्ण सिद्धि नही हो सकती तो वे आमतौर पर उस काम को शुरू करने में हिचकिचाते है। यह मन.स्थिति वास्तव मे प्रगति के मार्ग में बाधक होती है।

अहिसा के द्वारा समान विभाजन किया जा सकता है। इस ओर उस व्यक्ति के, जिसके जीवन का आदर्श है पहला कदम यह है कि वह अपने निजी जीवन मे आवश्यक परिवर्तन करे। भारत की गरीबी को ध्यान मे रखकर वह अपनी इच्छाओ को कम से कम कर ले। अपनी कमाई को बेईमानी से मुक्त कर ले। सट्टे की इच्छा को त्याग दे। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह सयम से काम ले। जब वह अपने निजी जीवन मे सब कर चुकेगा जो संभव है, तभी वह ऐसी स्थिति मे होगा कि अपने आदर्श का अपने साथियों और पड़ोसियों को उपदेश दे सके।

वास्तव में आर्थिक समानता के सिद्धान्त के अनुसार धनिक अपनी सम्पत्ति का स्वामी तो होगा पर उसमें से वह वैयक्तिक आवश्यकताओ के लिये जितना उचित हैं उतना ही खर्च करेगा। शेष का उपयोग समाज के हित के लिये करने के हेतु वह ट्रस्टी वन जायेगा। इससे ट्रस्टी में ईमानदारी होगी।

ज्योही मनुष्य अपने को समाज का सेवक मानेगा, उसके लिये कमायेगा, उसके हित मे खर्च करेगा, तब उसकी कमाई मे शुद्धता आयेगी और उसके साहस मे अहिसा होगी। इसके अतिरिक्त यदि लोगो के मस्तिष्क जीवन की इस पद्धति की ओर आकर्षित होगे तो समाज मे अहिसात्मक क्रान्ति होगी।

डा० राममनोहर लोहिया :- कृष्ण चैत्र तृतीया, 23 मार्च 1910 की प्रात: फैजाबाद जिले के अन्तर्गत अकबर पुर कस्बे मे जन्मे डा० राममनोहर एक सशक्त तथा क्रातिकारी व्यक्तित्व के स्वामी थे। वे निर्भीक उद्भट् साहसी, उदारहृदय, समाज-सुधारक, राजनीतिज्ञ और मानवता के महान समर्थक होने के साथ-साथ हिन्दी प्रेमी थे और हिन्दी को देश के कामकाज की भाषा बनाये बिना उनकी दृष्टि मे भारत की आजादी पंगु थी। नि:सदेह वे जीने की एक ऐसी मुद्रा थे जिससे तिमिर का दैत्य पास नहीं फटक सका। वे कला और जीवन के पर्याय थे। वे अजातशत्रु थे।

डा० राममनोहर लोहिया आधुनिक भारत के कबीर थे। सौंदेबाजी, कृत्रिमता और पद-लालसा से वे सदा दूर रहे। न उन्होंने कभी दल बदला और सत्य शोध की तलाश में इतस्तत: भटकते रहे। शुरू से काग्रेस मे रहते हुये समाजवादी दृष्टिकोण रखते थे। उनका दृष्टिकोण क्रान्तिकारी रहा और उनकी क्रांति महात्मा गॉधी द्वारा शोषित साधनो के माध्यम से ही अग्रोन्मुखी हुयी थी। डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर के अनुसार ''सन् चौंतीस वाला लोहिया युवक होता हुआ भी विनयी और सुशील था, किन्तु संसद मे आने वाले प्रौढ़ लोहिया के भीतर के स्फुलिंग दिखायी देते थे। राजनैतिक जीवन के अनुभवों ने उन्हें कठोर बना दिया था और बुढ़ापे के समीप पहुॅचकर वे उग्रपथी बन गये थे।[40]

वस्तुतया लोहिया स्वाभाविक नियमो की कभी अवमानना नहीं करते थे। लोहिया के मित्र व सहयोगी ओम प्रकाश दीपक ने उनकी जीवनी लिखते हुये इस

संदर्भ में अपना निष्कर्ष देते हुये कहा है—"वह असाधारण प्रतिभाशाली लेकिन स्वतंत्र बुद्धि का था, जो केवल आंतरिक अनुशासन को स्वीकारता था, बाह्य अनुशासन को नहीं।"41

लोहिया मानते थे कि मातृभाषा को छोड़कर ज्ञान व अभिव्यक्ति का दूसरा सशक्त माध्यम कोई नहीं हो सकता है। मातृभाषा और हिन्दी के प्रति उनमें अटूटश्रद्धा व विश्वास होने का यही कारण था। कलकत्ता में अध्ययनरत होते हुये भी वह हिन्दी में बातचीत करना अधिक पसन्द करते थे। अधकचरी भाषा के फैशन-परस्त लोगों को वे खूब आड़े हाथों लेते थे।

ओम प्रकाश दीपक के शब्दों में "जर्मनी में खोज करते हुये लोहिया ने अपनी आँखों से नाजीवाद का उदय देखा, उसके हाथों साम्यवाद और समाजवाद को पराजित होते देखा और इस नतीजे पर पहुँचे कि नाजीवाद और साम्यवाद बुरे सिद्धान्त हैं, लेकिन उनमें संकल्प शक्ति है और समाजवाद अच्छा सिद्धान्त होते हुये भी उसमें संकल्प शक्ति नहीं। 'संकल्पशक्ति वाला समाजवाद' यह उनका वैचारिक लक्ष्य बना। कदाचित उनका यह सोचना था कि गाँधी जी की संकल्प शक्ति के मेल से समाजवाद सहित पश्चिमी विज्ञान की तर्क प्रधान ज्ञान शक्ति का उदय होगा जिससे दुनिया के बदलने में देर नहीं लगेगी।

स्त्री के प्रति उनके मन में विशेष सम्मान था। उनकी यह धारणा रही कि स्त्री के स्वतंत्र हुये बिना पुरुष स्वतंत्र नहीं हो सकता। स्त्री पर लगे हुये बंधन समाज के अनेक अन्याय के कारण हैं।

लोहिया मनुष्य की प्रकृति में स्वतंत्रता पर अधिक जोर देते थे। उनकी बौद्धिक स्वतंत्रता संबंधी धारणा डा० ताराचन्द दीक्षित के अनुसार "ग्रीन के उस विचार से भी

पुष्ट होती है जिसमें उसने माना है कि मानव चेतना में स्वतंत्रता अन्तर्निहित रहती है, जिसे राज्य की आवश्यकता पड़ती है। "Thus the state . does not create right's but it gives fuller reality to right's already existing "[42] अर्थात् राज्य से अधिकारों का जन्म नहीं होता, वे तो पूर्व से ही मानव प्रकृति में विद्यमान है, राज्य तो उन अधिकारों को मान्यता व वास्तविकता प्रदान करता है।'' लोहिया का मत था कि मानव को अत्याचारी और अन्यायी कानूनों की शान्तिमय और अहिंसात्मक अवज्ञा का अधिकार होना चाहिये।[43] व्यक्ति को प्राणदण्ड नहीं, आत्महत्या का ही अधिकार मिलना चाहिये। यौन आचरण में केवल दो ही अक्षम्य अपराध हैं— बलात्कार और झूठ बोलना या वायदों को तोड़ना।

लोहिया ने हिंसा को सामाजिक व राजनीतिक परिवर्तन का उपयुक्त साधन कभी नहीं स्वीकार किया। वे मानते रहे कि हिंसा ऐसी प्रवृत्ति है जो अपने से दुर्बल शिकार को ढूँढती है। वह सदैव अपने मुकाबले के अथवा शक्तिशाली शत्रु से कन्नी काटती है। वे आजीवन हिंसा से लड़ते रहे। शक्ति का मर्म उन्होने संकल्प माना। चाहे वह शक्ति हिंसाधृत हो या अंहिसाधृत। उसके पीछे शक्ति संकल्प की होगी और अंहिसा में शक्तिमात्र ही संकल्प की थी।

लोहिया ने द्वन्द की भाषा को एकांगी मानकर अस्वीकार किया था। वे मार्क्स के सिद्धान्त से उसी प्रकार परे थे जिस प्रकार गाँधी के । मार्क्स समाज को साध्य और व्यक्ति तो साधन मानते हैं और गाँधी व्यक्ति को साध्य और समाज को साधन मानते हैं जबकि लोहिया व्यक्ति को ही साध्य व साधन दोनों मानते हैं। उनका कहना था कि व्यक्ति अन्याय के खिलाफ संघर्ष करने के रूप में साधन और चूंकि वह सुधारे जाने वाले समाज का अभिन्न अंग है, फलतः वह साध्य भी है।[44]

लोहिया ने नारी के सक्रिय सहयोग के बिना समाजवादी आंदोलन को वधू विहीन विवाह की संज्ञा दी थी— "A socialist movement without the active participation of women is like a wedding without the bride " उन्होंने कहा था कि — ''औरत । हिन्दुस्तान की औरत। दुनिया में दु:खी लोगों में सबसे ज्यादा दु:खी भूखी, मुर्झायी और बीमार है।[45] लोहिया नर-नारी के बीच 'एक पत्नी एक पति' को आदर्श मानते थे और दोनों में समता का धरातल जरूरी समझते थे।

लोहिया मानते थे कि गाँधी ने भारतीय समाज में जड़ता को तोड़ा था और आंतरिक संघर्ष को उस स्थान तक ले गये थे, जहाँ से समाज में प्राण चेतना उदात्तोन्मुख होने के लिये मचलने लगती है। उनको सदैव मनुष्य की जाग्रत तर्क बुद्धि पर भरोसा रहा था। उनका विश्वास था कि शीघ्र नयी विश्व सभ्यता का उदय होने वाला है और नयी मानवतावादी धारित्री नये समाज की संस्थापना कर सकेगी।

लोहिया का विश्वास था कि कार्य करते हुये फलाफल के प्रति अनासक्त रहना चाहिये और सम्पूर्ण शक्ति उस कार्य के प्रति केन्द्रित कर देनी चाहिये। लोहिया ने अपने जीवन में इन दोनों नियमों का अक्षरश: पालन किया, परंतु वे कहीं बँध नहीं पाये । न लक्ष्य उनको बाँध पाया न सीमाएँ। उनका दृष्टकोण भेदभाव से रहित था और अत्यंत उदार था। उदार सिद्धान्तों में नहीं जन-जन की पीड़ा के प्रति। वे आंशिक समाजवाद को पसंद नहीं करते थे। उनका कहना था कि समाजवाद का एक अंग अगर ले लिया जाता है, जैसे-वामपंथी आर्थिकता तो समाजवाद खण्डित रह जाता है। लोहिया समाजवाद को आर्थिक नीतियों से ऊपर एक जीवन दर्शन मानते थे। उनके अनुसार कोई भी सच्चा समाजवादी केवल आर्थिक सुधारों से ही संतुष्ट नहीं होता है, अपितु वह अपनी एक विशिष्ट शैक्षणिक, नैतिक एवं सौन्दर्य शास्त्रीय नीति का भी प्रतिपादन करता है "No true socialist is satisfied with merely economic reforms

but advocates also distinct educational, ethical & aesthetic policy"[46] पार्टियों के इतिहास से यह देखा जा सकता है कि कोई भी पार्टी हो उनमें एक व्यक्ति के निर्देश के आगे नत होने की विवशता बराबर बनी रही। यही कारण है कि हमारे यहाँ स्वस्थ लोकतंत्र का विकास नहीं हो पाता क्योंकि हमारे राष्ट्रीय चरित्र, लोकतंत्र की उपेक्षा की परवाह न करके अहम भूमिका पर जरूरत से ज्यादा ध्यान देते है। फलत: निकट भविष्य में आगे चलकर उसका परिणाम जनता को ही भोगना पड़ता है और नेताओं का यह अभिशाप जनता को तब तक भोगना होगा जब तक वह न केवल शिक्षित हो जायेगी, अपितु जनतंत्र की कार्यप्रणाली की अंतरंगता व मनोभूमि को भी आत्मसात न कर लेगी। लोहिया हिंसा से घृणा और अन्याय का अहिंसात्मक प्रतिकार सीखने पर अधिक जोर देते थे। समता उनकी दृष्टि में नि:शस्त्रीकरण का आधार हो सकती है। ''सामूहिक सुरक्षा का अभाव ही शस्त्रीकरण की वृद्धि का कारण है।''[47]

लोहिया ने मार्क्सवाद के मौलिक उसूलों की समीक्षा की तथा छोटे पूँजीपतियों के लोप की मार्क्स की भविष्यवाणी को गलत बतलाया। लोहिया पूँजीवादी उत्पादन के संबंधों और पूँजीवादी उत्पादन की शक्तियों, दोनों का अस्तित्व देखना चाहते थे जबकि मार्क्स केवल पूँजीवादी उत्पादन को ही नष्ट करना चाहते थे। लोहिया का निष्कर्ष था कि विकेन्द्रीकरण गरीब मुल्कों के लिये उपयुक्त है जबकि मार्क्स केन्द्रीकरण को महत्व देते थे।

जेल में दी गयी असह्य यातनाओं के अनुभवों के संबंध में लोहिया लिखते हैं— अकसर यंत्रणाएँ असह्य भी लगती, लेकिन काल के रहस्य के साथ उन यंत्रणाओं का दर्द बढ़ता-घटता रहता। कभी कभी सह्य असह्य लगने लगता और असह्य सह्य। वर्तमान की यंत्रणाएँ सदा ही सह्य लगतीं। बाद में मुझे अनुभव हुआ कि बीते क्षण व

वर्तमान क्षण केवल भय की कल्पना के परिणाम थे। डर का दर्द भविष्य का होता है न कि वर्तमान का, क्योंकि हम भविष्य में जीते हैं। हम केवल उसकी कल्पना ही करते हैं। वर्तमान में डर भी नहीं। इसे ही मैं काल का रहस्य मानता हूँ। इसलिये एक संयमित व्यक्ति के लिये डर नाम की चीज कोई मायने नहीं रखती।''

''अनियति का ईश्वर या दैवी शक्ति से जुड़ा होना आवश्यक नहीं। मनुष्य पूरी दुनिया को नियति से जोड़कर सोचता है लेकिन नियति का संबंध सामूहिक इतिहास से है। जहाँ भविष्य के गर्भ में भूत एक बीज रूप में रहता है लेकिन यहाँ तो मेरा संबंध केवल अपनी नियति से था।''

लोहिया के अनुसार अमीरी और गरीबी ही सभी विषमताओं की जड़ है। वे चाहते थे कि सर्वप्रथम गरीबी तथा अमीरी के फर्क से जो अन्याय निकलते हैं उनको दूर किया जाये। उन्होंने अपने आर्थिक दर्शन के निम्नलिखित आधार बताए- (1) वर्ग-उन्मूलन, (2) आय-नीति (3) मूल्य-नीति (4) अन्न-सेना व भू-सेना, (5) भूमि का पुनर्वितरण (6) खर्च सीमा (7) समाजीकरण (8) आर्थिक विकेन्द्रीकरण।

लोहिया मार्क्स के कम्यूनिज्म के पूर्वार्द्ध तथा ऐतिहासिक विशलेषण से साफ इन्कार कर चुके थे। उनकी दृष्टि में सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति विषयक मार्क्स की अवधारणाएँ अपूर्ण थीं। उन्होंने वर्ग संघर्ष के साथ राष्ट्रीय संघर्ष को अनिवार्य माना था। वे आर्थिक स्थिति को जैसा मार्क्स ने माना है, मात्र वर्ग संघर्ष का आधार न मानकर जाति, भाषा आदि को भी आधार मानते थे। उनकी दृष्टि में आंतरिक तथा बाह्य संघर्ष के दोहरे दबाव में सभ्यता पतनोन्मुख होती है। बाह्य संघर्ष अर्थात् राष्ट्रों के बीच का संघर्ष। वे नहीं मानते थे कि मात्र पूँजीवाद ने उत्पादन शक्ति तथा उत्पादन संबंध के मध्य संघर्ष तेज किया है अपितु उनके अनुसार क्रान्ति की प्रक्रिया ने विश्व को दो भागों

में बाँट दिया है। विश्व में गरीब देशों की स्थिति के पीछे वही मूल सत्य है। गाँधी जी और मार्क्स दोनों ही अतिवाद के शिकार हुये थे-एक आत्मा के द्वन्द पर था और दूसरा पदार्थ के द्वन्द पर था। लोहिया आत्मा और पदार्थ दोनों को, मानव चेतना तथा सामाजिक अस्तित्व को एक दूसरे का पूरक मानते थे। गाँधी जी मानते थे कि मानव की चेतना, विचार परिवर्तित होने से समाज बदल जायेगा। अत: उन्होंने अपरिग्रह, सत्य, अहिसा, उपवास, अस्तेय आदि के आधार पर पूँजीवादियों का हृदय परिवर्तन करना चाहा। जबकि मार्क्स भौतिक परिस्थितियों के परिवर्तन से व्यक्तियों के विचारों को बदलने की बात कहता है। लोहिया दोनों को अपूर्ण मानते हुये आवश्यक समझते हैं कि **कार्लमार्क्स** का **आर्थिक लक्ष्य** और **गाँधी** का **प्रवृत्ति लक्ष्य** (धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक लक्ष्य) दोनों ही मिलकर शिवकारी भूमिका मिभा सकते हैं। लोहिया की मान्यता थी कि —" हिन्दुस्तान के समाजवाद को अब आध्यात्मिक और भौतिक दोनों का वैचारिक पुट देकर खड़ा किया जायें, यह नहीं कि फिर खिचड़ी पकाई जाये, बल्कि ऐसे आधार पर खड़ा किया जाये कि जिसमें उसे मनुष्य के इन दोनों तथ्यों की सहायता मिल सके।[48] अर्थात् विषय और प्रवृत्ति दोनों को परस्पर अवलम्बित किया जा सके।[49] इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि लोहिया के पास अपनी विचारदृष्टि थी और समस्याओं के समाधान का अपना रास्ता था।

स्टाकहोम में विश्व सरकार के समर्थकों के सम्मेलन में लोहिया ने **चौखंभा राज** की कल्पना को आगे बढ़ाते हुये कहा था:—''सारी दुनिया में एक पॉच खंभों पर आधारित व्यवस्था का निर्माण होना चाहिये। स्थानीय कारोबार में ग्राम व नगर की आजादी हो। अपने इलाके की व्यवस्था में जिले के अधिकार हो। प्रांतीय क्षेत्र की व्यवस्था प्रांत के हाथ में रहे। कुछ मुख्य प्रश्न केन्द्र की सरकार को सौपे जायें और विश्व सरकार अंर्तराष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा तथा विश्व के पुनर्निर्माण के सीमित कार्य

करे।.....ऐसी विश्व सरकार ही हथियार-बंदी करके युद्ध को रोक सकेगी और शान्ति स्थापित कर सकेगी।''

उन्होंने साम्यवाद तथा पूँजीवाद के चंगुल से दूर रहकर ऐसे समाजवाद की संकल्पना की थी जो विश्व व्यापी हो और स्वतंत्र तथा सर्वहितकारी हो। दरअसल वे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में समानता, समता, तथा वसुधैव कुटुम्बकम् को सर्वाधिक महत्व देते थे।[50] उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि अर्न्तराष्ट्रीय चेतना के विकास के प्रति राष्ट्रीय राजनीति का आधार ही उदासीन है। आधुनिक मनुष्य के विचार तथा कर्म में राष्ट्रीय आजादी और रोटी का पोषण इस प्रकार नियोजित हुआ है कि वह समस्त संसार की शान्ति व रोटी के विरुद्ध है। मानवतावाद को संस्थापित किये बिना उनकी दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की कल्पना करना कदापि संभव नहीं हो सकता। जब तक घृणा, अन्याय व शोषण की नीति को त्यागकर प्रेम, भ्रातृत्व और सहानुभूति की नीति को सम्पोषित नहीं किया जायेगा, तब तक विश्व सरकार अथवा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को सफलता नहीं मिल सकेगी।

लोहिया चाहते थे कि छोटी मशीनों की दिशा में देश अग्रोन्मुख हो और देश के वैज्ञानिक उस दिशा में प्रयत्नशील हों। वे नहीं मानते थे कि विदेशी आविष्कारों के सहारे तथा बड़ी मशीनों के द्वारा भारत की आर्थिक व्यवस्था पुनर्जीवित हो सकती है। छोटी मशीनें कम पूँजी में सहज तकनीकी ज्ञान के साथ जन - जन को अपने साथ लेकर चल सकती है। इससे कच्चे माल तथा मानव शक्ति का दुरूपयोग होने की संभावना भी नहीं रहेगी। निर्धन व्यक्ति के लिये ये सहायक होंगी। श्रम का शोषण भी नहीं होगा, क्योंकि उससे व्यक्ति अपने श्रम का समुचित सुफल प्राप्त कर सकेगा। समाजवाद की स्थापना होगी और "**कमेरा** आयेगा लुटेरा जायेगा।"[51] आर्थिक विकेन्द्रीकरण से देश के सभी वर्गो का समान रूप से विकास हो जायेगा। इस प्रकार जन क्रान्ति होगी, जिसमें राजनीतिक तथा आर्थिक चेतना का समुचित विकास होगा।

लोहिया ने एक नया कार्यक्रम देश के सामने रखा था—एक घंटा देश को अर्थात हरेक व्यक्ति अपने काम में से एक घंटा देश को दे। इस एक घंटे का लाभ वह स्वयं न ले। इससे उनकी दृष्टि में देश जल्दी तरक्की कर सकता था। परंतु उनका यह कार्यक्रम सफल न हो सका। उसका एक प्रधान कारण था अब स्वयं सेवकों में पहले जैसी निष्ठा नहीं रही थी। त्याग व सेवा की भावना कूच कर चली थी।

एम० एन० राय (मानवेन्द्रनाथ राय - 21 मार्च 1887- 25 जनवरी 1954) :-

एम० एन० राय का मूल नाम नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य था। अज्ञेय उन्हें आधुनिक भारत का एकमात्र वास्तविक बौद्धिक कहते थे। मानवेन्द्रनाथ राय के चिंतन की ओर राजनीतिक और अकादमिक दुनियाओं ने अपेक्षित ध्यान नहीं दिया। उग्र राष्ट्रवाद से शुरू होकर साम्यवाद से गुजरती हुयी उनकी चिंतन यात्रा का नव मानववाद या वैज्ञानिक मानववाद तक पहुँचना उनका निजी वैचारिक उत्कर्ष ही नहीं वरन औपनिवेशिक दासता से मुक्ति की आंकाक्षा करने वाली स्वातंत्र्य चेतना का अपने समय में प्रचलित विकल्पों की अपर्याप्तता का अनुभव करते हुये एक नये विकल्प का प्रस्तावक होना है।

साम्यवाद के प्रति एम० एन० राय के प्रारंभिक आकर्षण की प्रमुख वजह मनुष्य की स्वतंत्रता और गरिमा के प्रति उनके आकर्षण तथा उसके उत्कर्ष की उनकी कामना में ही तलाशी जा सकती है। मनुष्य की स्वतंत्रता पर राय किसी भी प्रकार का नियंत्रण- (राजनीतिक, आर्थिक अथवा आध्यात्मिक) नहीं चाहते। साम्यवाद के किसी भी रहस्यवादी आस्था का निषेध करने, वैज्ञानिक चिंतन को बढ़ावा देने तथा मनुष्य की बेहतरी को अपना लक्ष्य घोषित करने के दावों ने ही शायद एम० एन० राय जैसे स्वातंत्र्यकामी चिंतक को उसकी ओर आकर्षित किया होगा।[52]

वास्तव में एम० एन० राय का मोहभंग मार्क्सवादी वैज्ञानिकता से हुआ था न कि विज्ञान सम्मत बौद्धिकता और मानववाद से। इसलिये वह कार्ल मार्क्स के इन मंतव्यों को सदैव सादर स्मरण करते रहे कि — "**मनुष्य मानवता का मूल** है।" तथा समाजवाद "**स्वतंत्रता का राज्य है।**"[53] लेकिन विज्ञान की अपनी गहरी समझ और उससे उत्पन्न दार्शनिक निष्कर्षो में वह मार्क्स से बहुत अलग और आगे निकल गये। एम० एन० राय भी यह मानते थे कि यह ब्रह्माण्ड एक "नियमशासित" भौतिक सत्ता है। लेकिन उनका बल बिन्दु केवल भौतिक पर ही नहीं बल्कि नियम शासित पर भी है। जिसका स्पष्ट तात्पर्य है कि इस नियम शासित भौतिक प्रकृति से विकसित होने के कारण जहाँ मनुष्य अपने अस्तित्व में भौतिक है वहीं अपने आचरण तथा वृत्ति में बुद्धि सम्पन्न अथवा विवेकशील या स्वतंत्र-चेतना से सम्पन्न है; क्योंकि इसके बिना विवेक का प्रयोग संभव ही नहीं है।

राय के लिये स्वतंत्रता और सृजनात्मकता इस लिये अस्तित्वगत मूल्य हैं और ये मूल्य मनुष्य की विकास प्रक्रिया से अविच्छिन्न है। राय कहते भी हैं कि —"स्वतंत्रता की तलाश बुद्धि और भावना के उच्च स्तर पर अस्तित्व के लिये जैविक संघर्ष का ही नैरन्तर्य है।[54] बुद्धि और भावना को भी राय अपनी प्रकृति में प्राकृतिक या जैविक ही मानते हैं। गीता में भी मन, बुद्धि और अहंकार को "अष्टधाप्रकृति" में गिनाया गया है। अतः राय के अनुसार मनुष्य की नैतिकता का स्रोत भी उसकी विवेकशीलता में है। मनुष्य नैतिक है; क्योंकि वह विवेकशील है। नैतिक होने के लिये किसी रहस्यवाद में आस्था अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार राय स्वतंत्रता, सृजनात्मकता और नैतिकता को मनुष्य के अस्तित्वगत गुण मानते हैं जिसका मूल आधार जैविक या प्राकृतिक है, अति प्राकृतिक या रहस्यवादी नहीं।

मार्क्सवादी वैज्ञानिकता को भी भ्रामक सिद्ध करते हुये राय नवमानववाद की तात्विक पृष्ठभूमि के रूप में जिस वैज्ञानिकता की अवधारणा विकसित करते हैं, वह मनुष्य और उसके इतिहास के प्रति एक नयी दृष्टि की कारक है। मार्क्स के अनुसार द्वन्दात्मकता प्रकृति का कानून है। इसी कारण प्रकृति से विकसित मनुष्य और उसकी संस्थाओं में द्वंदात्मकता का होना अनिवार्य है। मनुष्य का इतिहास इसी द्वदात्मकता के विभिन्न रूपों का इतिहास है। सामाजिक जीवन में वर्ग संघर्ष इसी **द्वन्दात्मकता का प्रतिफल है।**

राय मार्क्सवाद की इस बुनियादी संकल्पना को ही अवैज्ञानिक मानते हुये इसे खारिज कर देते हैं। वह इतिहास की आर्थिक व्याख्या को भी अस्वीकार कर देते है उनका कहना है कि द्वंदात्मक भौतिकवाद की कल्पना भ्रामक है; क्योंकि वस्तुतः **भौतिकवाद एकतत्ववादी दर्शन है।** मनुष्य के इतिहास को वर्ग संघर्ष की अवधारणा के आधार पर नहीं समझा जा सकता। मनुष्य द्वारा समाज का विकास सघष के आधार पर नही बल्कि सहकार की बुनियादी प्रवृत्ति के आधार पर हुआ है। **राय** के शब्दों में — '' यह सही है कि मनुष्य का प्राथमिक सरोकार उसका अपना अस्तित्व है, लेकिन यह भी उतना ही सच है कि उसकी स्वार्थवृत्ति अपना ही अतिक्रमण करने की सामर्थ्य को भी उत्पन्न करती है। वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त इस तथ्य की अनदेखी करता है कि सहकार सदैव ही एक दृढ़तर सामाजिक कारक रहा है अन्यथा सभ्यता के प्रारंभ में ही समाज टुकड़े-टुकड़े हो जाता।[55]

राय के इस कथन से वैसे ही इतिहास दृष्टि व्यंजित होती है जैसे कि महात्मा गॉधी के इस कथन से — ''अगर दुनिया की कथा लड़ाई से शुरू होती तो आज एक भी आदमी जिन्दा न रहता.........। दुनिया लड़ाई के हंगामों के बावजूद टिकी हुयी है। इसलिये कि लड़ाई के बल के बजाय प्रेम का बल ही उसका आधार है हजारो लाखों

लोग उसके आधार पर अपना जीवन बसर करते हैं। करोड़ों कुटुम्बों का क्लेश प्रेम की भावना में समा जाता है, डूब जाता है। सैकड़ों राष्ट्र मेलजोल से रह रहे हैं। इसको हिस्ट्री नोट नहीं करती, हिस्ट्री कर भी नहीं सकती। फर्क इतना है कि दया, प्रेम आदि भावात्मक शब्द है जबकि सहकार कुछ अधिक व्यावहारिक या संस्थानिक लेकिन आपसी मेलजोल समाज का निर्धारक नियम है। यह दोनों मानते हैं। मानवेन्द्र नाथ राय के अनुसार सभी प्रचलित विचारधाराएं और व्यवस्थाएँ मनुष्य की स्वतंत्रता के इस चरम उद्देश्य को अपनी प्रक्रिया में भुला ही नहीं देतीं बल्कि अक्सर स्वयं उसके विरुद्ध हो जाती। उनके देखते-देखते साम्यवाद एक तरह की तानाशाही में रूपान्तरित हो गया। जहाँ अनौपचारिक लोकतंत्र हो, वहाँ संसद सत्ताहीन नेताओं या दलों की गुलाम की तरह कार्य करने लगती है।[56]

राय का मन्तव्य है कि आज असली संघर्ष पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच अथवा औपचारिक लोकतंत्र और फासीवाद के बीच नहीं है, क्योंकि औपचारिक संसदीय लोकतंत्र में भी पूँजीवादी व्यवस्था अब घोषित सिद्धान्त के रूप में नहीं भी तो कम से कम व्यवहार में उदारवाद के स्थान पर फासीवाद की माँग करती है। इसलिये राय का यह विश्लेषण उचित लगता है कि ''हमारे युग का संघर्ष सर्वसत्तावाद और लोकतंत्र के बीच है, सर्वभक्षी सामूहिक अहं—राष्ट्र अथवा वर्ग और स्वतंत्रता के लिये संघर्षरत व्यक्ति के बीच।''[57]

इसलिये एम.एन.राय एक ऐसे राजनीतिक तंत्र और अर्थव्यवस्था का प्रस्ताव करते है जिसमें सत्ता के किसी भी रूप का हस्तांतरण और केन्द्रीकरण न हो सके। और व्यक्ति अपनी सम्प्रभुता का वास्तविक भोग कर सके। कुछ भिन्नता के बावजूद व्यवस्थागत स्तर पर महात्मा गाँधी का उद्देश्य भी यही प्रतीत होता है। संसदीय लोकतंत्र के बारे में गाँधी जी ने राय से भी बहुत पहले समान विचार प्रकट करते हुये संसद के लिये **बाँझ** और **वेश्या** जैसे शब्दों का प्रयोग किया था।

वैश्विक अर्थव्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय बाजारवाद के बोझ तले दम तोड़ती वैयक्तिक और स्थानीय सर्जनात्मकता की सुरक्षा और पल्लवन के लिये संवेदनशील लोग जिस विकल्प की तलाश में हैं वो है **नव मानववाद** । मनुष्य पृथ्वी पर शून्य से नहीं टपका। जैविक विकास की लम्बी प्रक्रिया के माध्यम से वह भौतिक विश्व की पृष्ठभूमि से विकसित हुआ है। उसकी नाल कभी कटी नहीं। अपने मस्तिष्क, बुद्धि और इच्छा के साथ मनुष्य भौतिक ब्रह्मांड का एक अंगभूत हिस्सा बना रहा है। यह ब्रह्मांड एक सुव्यवस्था है— एक विधि-संचालित व्यवस्था । इसलिये मनुष्य का सत्व और उसका संभवन, उसके भाव, इच्छा, विचार भी तय हैं। मनुष्य सारतः विवेकशील है। मनुष्य में विवेक ब्रह्माण्ड में समन्वय की प्रतिध्वनि है। नैतिकता को मनुष्य की अन्तर्जात विवेकशीलता के सन्दर्भ में समझा जाना चाहिये। केवल तभी मनुष्य सहजता और स्वेच्छा से नैतिक हो सकता है। विवेक उस नैतिकता के लिये एकमात्र आधार है जो अन्तरात्मा को एक निवेदन है और अन्तरात्मा अपनी बारी में परिवेश का सहज बोध और उस पर प्रतिक्रिया है। अपने अंतिम विश्लेषण में अन्तरात्मा किसी भी तरह गुह्य और रहस्यपूर्ण नहीं है।[58]इसलिये सभी सामाजिक प्रयासों का उद्देश्य मनुष्य को अपनी अन्तर्जात विवेकशीलता के प्रति अधिकाधिक सचेत करते रहते होना चाहिये।

समाज को पुनर्गठित करने के किसी भी प्रयत्न का प्रारंभ समाज की इकाई से होना चाहिये। कहना चाहिये कि उसके मूल से। मानवीय विरासत के सम्पूर्ण भंडार के आधार पर क्रान्ति का नया दर्शन विकसित करने और तदन्तर राजनीतिक कर्मशीलता और आर्थिक पुनर्निर्माण के व्यवहार के सिद्धान्त का सविस्तार प्रतिपादन तथा नियमों के सूत्रीकरण का ऐसा उद्यम मौलिकवाद कहा जा सकता है।

मौलिकवाद राष्ट्र या वर्ग की पदावली में नहीं सोचता, उसका सरोकार मनुष्य है। स्वतंत्रता से उसका आशय व्यक्ति की स्वतंत्रता है, इसलिये इसे **नवमानववाद** भी

कहा जा सकता है। नया इसलिये क्योंकि वह आधुनिक सभ्यता की शताब्दियों में प्राप्त वैज्ञानिक ज्ञान और सामाजिक अनुभव से सम्पन्न पुनर्बलित और संवर्धित मानववाद है।[59] स्वतंत्रता की तलाश को अस्तित्व के लिये मनुष्य के संघर्ष के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। अपनी जैविक आवश्यकताओं की संतुष्टि के क्रम में प्रकृति पर मनुष्य की विजय का कारण यही है। वह ज्ञान की उस अनवरत खोज का आधार है जो उसे प्राकृतिक घटनाक्रम और भौतिक तथा सामाजिक परिवेश के अत्याचार से क्रमशः मुक्त होने में समर्थ बनाता है।

स्वतंत्रता की तलाश एक उच्चतर स्तर, बुद्धि और भावना के स्तर पर अस्तित्व के लिये जैविक संघर्ष का ही नैरन्र्य है। [60] आधुनिक समाज में एक व्यक्ति को स्वतंत्र होने के लिये निश्चय ही न केवल आर्थिक पर्याप्तता और सुरक्षा का अनुभव होना चाहिये, बल्कि उसे सांस्कृतिक जकड़बंदी से मुक्त ऐसे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, वातावरण में रहना चाहिये जो उसके बैद्धिक और अन्य मानवीय सामर्थ्य के विकास में सहायक हो सके। समाज के घटक व्यक्तियों द्वारा इस व्यापक अर्थ में स्वतंत्रता की बढ़ती हुयी उपलब्धि ही सामाजिक संगठन के मूल्यांकन की कसौटी होनी चाहिये। प्राचीन उक्ति "मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु की माप है" से निर्देशित होते हुए भविष्य के दर्शन को यह घोषित कर देना चाहिये कि सामाजिक संगठन या राजनीतिक संस्था के किसी भी रूप द्वारा व्यक्ति को प्रदत्त स्वतंत्रता की वास्तविक मात्रा ही उसके गुणावगुण की कसौटी है।

राष्ट्र हो या वर्ग कोई भी समष्टि व्यक्तियों से ही बनती है। समाज मनुष्य द्वारा स्वतंत्रता की तलाश में की गयी रचना है। सहकारी सामाजिक संबंधों की स्थापना मूलतः अस्तित्व के लिये उस संघर्ष को पुनर्बलित करने के लिये हुयी थी, जिसे आदिम मनुष्य ने व्यक्ति के रूप में शुरू किया था। स्वतन्त्रता की तलाश आदिम मनुष्य के

अस्तित्व के लिये संघर्ष का ही जारी रहना है। इस रूप में वह सम्पूर्ण सामाजिक प्रगति की बुनियादी प्रेरणा है। स्वतंत्रता मनुष्य के बौद्धिक, नैतिक और सृजनात्मक सामर्थ्य के पल्लवन को बाधित करने वाले भौतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक सभी कारणों का क्रमशः लोप होते जाना है। सामाजिक संबंधों का कार्य व्यक्तियों के लिये व्यक्तियों के रूप में अधिकाधिक स्वतंत्रता सुनिश्चित करना है।

एम० एन० राय के अनुसार नागरिक का शिक्षण ही समाज के ऐसे पुनर्गठन के लिये आवश्यक शर्त है, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता का अतिक्रमण किये बिना सबकी प्रगति और समृद्धि में सहायक हो। एक क्रांतिकारी और मुक्तिदायी सामाजिक दर्शन का काम इतिहास के इस बुनियादी तथ्य पर बल देना है कि **अपनी दुनिया का निर्माता मनुष्य स्वयं** है, एक विचारशील प्राणी के रूप में मनुष्य और ऐसा वह एक व्यक्ति की हैसियत में ही हो सकता है।[60] मस्तिष्क उत्पादन का साधन है और सर्वाधिक क्रांतिकारी वस्तु का उत्पादन करता है। क्रान्तियाँ, रूढ़िभंजक विचारों की पूर्वकल्पना अपनी सृजनात्मक शक्ति के प्रति सजग विश्व के पुनर्निर्माण की कामना से प्रेरित विचारों की साहसिकता से संचालित और स्वतंत्र मनुष्यों के स्वतंत्र समाज के आदर्श से उत्साहित लोगों की निरन्तर बढ़ती हुयी संख्या ऐसी परिस्थितियों का निर्माण कर सकती है, जिसमें लोकतंत्र संभव हो सके। आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतंत्र व्यक्तियों का सत्तारूढ़ होना सभी जंजीरें तोड़ डालेगा और सबके लिये स्वतंत्रता का समारंभ हो सकेगा।

वास्तव में मनुष्य ही अपनी दुनिया की कसौटी है। तथा अपने अनुभवो से सीख लेकर अपने लिये एक अच्छा जीवन हासिल करने के प्रयासों में वह अपने बौद्धिक गुणों और नैतिक मूल्यों का विकास करता है; परंतु यह क्षमता केवल कुछ ही लोगों अथवा आर्थिक विकास के किसी खास स्तर पर ही प्राप्त नहीं होती। आर्थिक पर्याप्तता

के सांस्कृतिक विकास में सहायक होने के बावजूद यह विचार ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रामक और तार्किक स्तर पर अयुक्तिसंगत है कि एक का होना दूसरे की अनिवार्य शर्त है। अस्तित्व के लिये अपने संघर्ष के क्रम में ही मनुष्य की क्षमताएँ विकसित हुयी।

सार्वजनिक जीवन में नैतिकता के लिये एक ऐसे राजनीतिक सिद्धान्त की पूर्वमान्यता आवश्यक है जो सामाजिक परिवर्तन के लिये सत्ता पर अधिकार को अनिवार्य न मानता हो और इस नये राजनीतिक सिद्धान्त को किसी ऐसे सामाजिक दर्शन से प्राप्त करना होगा जो मनुष्य को प्रमुख और सम्प्रभु मानता हो।

अन्त:करण का आदेश होने के कारण नैतिकता का व्यवहार व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकता है। नैतिक मनुष्यों के बिना नैतिक समाज नहीं हो सकता। अभी तक नयी सामाजिक व्यवस्था के स्थापक इसके विपरीत विचार को स्वीकार करते रहे हैं कि एक आदर्श व्यवस्था को मानव व्यक्तित्वों के विकास के लिये होना एक पूर्व शर्त है।[62]

स्पष्ट है कि सामाजिक मान्यताओं और राजनीतिक व्यवहार पर हितकारी प्रभाव डाल सकने से पहले स्वयं नैतिक दर्शन को एक सुदृढ़ आधार पर खड़े होना होगा। इसलिये निर्णायक प्रश्न यह है कि — नैतिकता की पृष्ठभूमि क्या है ? क्या मनुष्य अपने में नैतिक हो सकता है ? अभी तक प्रचलित मान्यता यही थी कि मनुष्य किसी सामाजिक बाध्यता के कारण ही नैतिक व्यवहार कर सकता है। नैतिकता के स्रोत के बारे में यह दृष्टि इस चिरमान्य धारणा को अस्वीकार कर देती है कि मनुष्य एक नैतिक सत्ता है।

इस दुष्चक्र से निकलने का रास्ता उसी नैतिक दर्शन में मिल सकता है जो अपने मूल्यों का आधार मानव प्राणी की विवेकशीलता में प्राप्त करता है। लेकिन

मनुष्य की विवेकशीलता क्या है ? विवेक क्या है कोई अभौतिक श्रेणी या एक जैविक धर्म? इस संबंध में दो मुख्य पूर्वानुमान थे—

पहला यह सामान्य विचार कि मनुष्य प्रकृति से स्वार्थी है और सहज रूप में अपने स्वार्थ से ही सरोकार रखता है। दूसरे मनुष्य का स्वभाव किसी न किसी उपकारी अतीन्द्रिय सत्ता में विश्वास करने का है यद्यपि यह पहले पूर्वानुमान का प्रतिवाद लगता है, लेकिन मुख्यतः यह मनुष्य के मूल पाप की प्राचीन ईसाई धारणा से जुड़ा हुआ था जिसके अनुसार मनुष्य स्वभाव से तो पापी (बुरा) है लेकिन किसी लोकोत्तर सत्ता के प्रति अपने समर्पण करने के गुण के कारण अच्छा हो सकता है।

परंतु इनमें से किसी भी पूर्वानुमान के आधार पर कोई भी समाजदर्शन, समाज की कल्पना, मनुष्य निर्मित कानून अथवा ईश्वरीय अध्यादेश से शासित एक दमनकारी संगठन के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में नहीं कर सकता था; क्योंकि दोनों का प्रयोजन मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियों को दबाना था। दंडात्मक या सुधारात्मक दोनों ही रूपों मे समाज एक जेल था। एक में मनुष्य को अपनी स्वतंत्रता का जन्मसिद्ध अधिकार राज्य की संप्रभुता को समर्पित करना था, दूसरे में उसे इस बात में ईमान लाना था कि इस पृथ्वी पर जीवन किसी ईश्वरीय इच्छा अथवा अतिमानवीय शक्तियों द्वारा शासित और नियंत्रित है जो उसके लिये कभी भी बोधगम्य नहीं है। दोनों में से किसी भी स्थिति में मनुष्य असहाय है और सामाजिक संबंधों में स्वतंत्रता तथा राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवहार में कोई पहल नहीं रखता।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1 देखिये स्वामी रामतीर्थ– मानवता और विश्वप्रेम - पृ०–8

2 वही पृ०–38

3 वही पृ०–38

4. वही पृ०–48

5 वही पृ०–58–62

6 भगवद्गीता 6/29, 13/27

7. स्वामी रामतीर्थ - मानवता और विश्व प्रेम - पृ०–61

8 देखिये डा० राधाकृष्णन्– धर्म और समाज - पृ०–6 सातवाँ संस्करण, 1975

9. जैनेसिस - 3.5

10. डा० राधाकृष्णन - धर्म और समाज - पृ०–9

11 वही पृ०–12

12 वही पृ०–16

13. वाल्टर डिलामेयर - प्लेजर्स एण्ड स्पैक्युलेशन्स (1940) - ये वे पहेलियाँ है जो आती तो बच्चे तक के मन में हैं पर जिनका संतोषजनक उत्तर अभी तक कोई दार्शनिक नहीं दे पाया है।

14. भगवद्गीता

15 शेक्सपियर -मेजर फार मेजर — 2.2

16 महर्षि अरविंद - मानव से अतिमानव की ओर - पृ० -46

17. वही - - पृ०-49

18. वही पृ०-56-57

19. वही पृ०-79

20. यह रूपान्तर डा० विश्वनाथ नरवणे की पुस्तक ''आधुनिक भारतीय चिन्तन'' के हिन्दी संस्करण से उद्धृत किया गया है।

21. श्री अरविंद- 'लास्ट पोयम्स' - पृ०-9

22 श्री अरविंद - 'द लाइफ डिवाइन'- पृ०-034

23 महर्षि अरविंद - मानव से अतिमानव की ओर - पृ०-75

24. महात्मा गांधी (अनुवादक -यशपाल जैन) 'गाँधी चिन्तन'- पृ०-12, नवजीवन (गुजराती) 20 नवम्बर, 1921

25. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी, अक्टूबर 1916, (खण्ड 13, पृ० 294-297)।

26. यंग इंडिया - 14 अप्रैल 1927

27. इंडियन ओपीनियन, 29 मई, 1909 (गुजराती)

28. इंडियन ओपीनियन 22 फरवरी-मार्च 1908

29. वही

30 यंगइण्डिया–7 मई,1919,

31 कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी खण्ड, 14, पृ० – 74–77

32. नवजीवन (गुजराती) 29 जून, 1924

33. देखिये – यंग इडिया,11 अक्टूबर, 1928

34. देखिये – हरिजन, 13 जून, 1936

35. यंग इंडिया, 25 नवम्बर, 1925

36 वही 1 सितम्बर, 1921

37 इंडियन ओपीनियन – 20 अगस्त, 1903

38. यंग इंडिया – 13 अक्टूबर, 1921

39 कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गॉधी (खण्ड – 13) 22 दिसम्बर, 1916

40 डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर –''डा० राममनोहर लोहिया'' – पृ०–9

41. ओम प्रकाश दीपक –''एक असमाप्त जीवन'' : प्रका० दिनमान , पृ०–11

42. T. H Green- "Lectures on the principle of political obligation" - P-138

43. डा० लोहिया – 'सिविल नाफरमानी की व्यापकता'' – पृ०–15

44 Dr. Lohia, "Marx Gandhi & Socialism"- P - 348-466

48 लोहिया – ''भारत में समाजवाद'' – पृ०–19

49 लोहिया – 'द्रष्टव्य : इतिहास चक्र, पृ०–36

50 Dr Lohia - "Internal during politics - P. -22

51. डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर –''डा० राममनोहर लोहिया'' – पृ०–129

52. नन्द किशोर आचार्य (अनुवादक)–''एम० एन० राय''– पृ०–2, प्रथम संस्करण 1988।

53 वही – पृ०–3

54. वही – पृ०–4

55 वही – पृ०–5

56 वही – पृ०–6

57. वही – पृ०–43

58. वही – पृ०–43

59. वही – पृ०–45

60 वही – पृ०–45

61 वही – पृ०–52

62 वही – पृ०–71

द्वितीय अध्याय

व्यक्ति एवं समाज का संबंध

व्यक्ति और समाज का संबंध

मनुष्य की अवधारणा के साथ समाज की अवधारणा उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि व्यक्ति और समाज के बीच अन्यतम संबध है और सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य को समाज से असंपृक्त करके नहीं रखा जा सकता। मनुष्य मे कई प्रकार के गुण, अवगुण, अच्छाइयॉ, बुराइयाँ और अच्छी तथा दुष्प्रवृत्तियाँ साथ-साथ समाहित होती हैं। यही कारण है कि मनुष्य के स्वभाव के बारे मे दार्शनिकों और समाजविचारको ने कई प्रकार की धारणा अभिव्यक्त की है जिनमे से कुछ तो विरोधी भी हैं, जैसे हॉब्स मनुष्य को स्वार्थी, संघर्षशील, नीच, पशुवत आचरण करने वाला मानते हैं तो लॉक उसे अनेक गुणों से युक्त मानते हैं। विवेकशील, बुद्धिमान और नैतिक होने के कारण मनुष्य अपने स्वभाव में निहित स्वार्थपरता और नीचता पर भी संयम स्थापित कर लेता है। डार्विन मनुष्य को संघर्षशील और फ्रायड उसे कामुक मानते हैं।

वस्तुतः मनुष्य की सामाजिक प्रकृति ही उसका मूलभूत लक्षण है, परंतु इस संदर्भ में कुछ प्रश्न हमारे सम्मुख उठते हैं जिन पर विचार करना अत्यंत आवश्यक है — मनुष्य किस अर्थ में एक सामाजिक प्राणी है ? किस अर्थ में समाज से हमारा संबंध है अथवा हम समाज के है और किस अर्थ में समाज हमारा है ? समाज पर हमारी निर्भरता की प्रकृति क्या है ? जिस सम्पूर्णता (या समष्टि) से हमारे व्यक्तिगत जीवन बँधे हुये हैं उसकी एकता की व्याख्या हम किस प्रकार करेंगे? ये सभी प्रश्न इस एक मूलभूत प्रश्न के भिन्न-भिन्न पहलू हैं कि इकाई अथवा व्यक्ति का समूह अथवा सामाजिक व्यवस्था से क्या संबंध है ? सभी प्रकार के समाजशास्त्रीय अन्वेषणों का प्रारंभ बिंदु और केन्द्र यही प्रश्न है। इस समस्या का समाधान प्रमुखतः तीन वर्गो में मिलता है—

(1) व्यक्तिवादी समाधान — लॉक, मिल।

(2) समाजवादी समाधान — हेगल, कम्यूनिस्ट।

(3) समन्वयवादी समाधान — टी० एच० ग्रीन।

इन दृष्टिकोणों पर विचार करने से पूर्व पाश्चात्य सामाजिक जगत मे प्रचलित दो परस्पर विरोधी और भ्रातिपूर्ण सिद्धान्तों के बारे में जानना अत्यत आवश्यक है क्योकि कई शताब्दियों से अनेक लेखकों ने मनुष्य और समाज के संबध के बारे मे उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो इस प्रकार है —

(1) सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त — (Social contract theory)

(2) सामाजिक सावयवी (जीव)— (Social organism theory)

(1) सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त —

ईसा से 5वीं शती पूर्व से अधिक अनेक दार्शनिकों ने समाज को एक ऐसा संगठन अथवा यंत्र माना है जिसे मनुष्यों ने अपने कुछ लक्ष्यो की पूर्ति के लिये जान बूझकर बनाया है—

टामस हाब्स [1] के अनुसार, समाज वह साधन है जिसे मनुष्य ने स्वयं अपनी अनियंत्रित प्रकृतियों के परिणामों के विरुद्ध अपनी रक्षा करने के लिये बनाया है। कुछ अन्य जैसे **एडम स्मिथ** और उसके अनुयायियों के आर्थिक दर्शन के आधार पर यह मानते हैं कि समाज पारस्परिक अर्थव्यवस्था के लिये एक कृत्रिम युक्ति है। इसी प्रकार 18 वीं सदी के व्यक्तिवादियों ने यह प्रतिपादित किया था कि ''मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में स्वतंत्र और समान पैदा हुआ और उसने सामाजिक सबंध की स्थापना केवल व्यवस्था और सुरक्षा की सामाजिक सुविधाओं को पाने के लिये की है।'' ऐसे सभी

सिद्धान्तों का यही दृष्टिकोण है कि या तो समाज स्वयं व्यक्तियों के बीच मूलभूत अनुबंध पर आधारित है अथवा लोगों और शासन के बीच अनुबन्ध पर। इस दृष्टिकोण का प्रयोग समाज से व्यक्ति के संरक्षण के तर्क की पुष्टि के लिये किया गया है और कभी-कभी इसके विरुद्ध समाज में राजनीतिक संगठन के कार्य में वृद्धि करने के लिये भी ऐसा हुआ है।[2]

परंतु अब इस सिद्धान्त का उतना प्रभाव नही रहा है। इस सिद्धान्त को अस्वीकार करने का पर्याप्त कारण है क्योंकि यह सिद्धान्त इस झूठी मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य समाज के बाहर का और उससे पृथक रहने वाला प्राणी है, अथवा रह सकता है। इस मान्यता में यह विचार निहित है कि समाज में प्रवेश करने के पूर्व मनुष्य केवल व्यक्तिमात्र है और वे अपनी सम्पति, अधिकार, व्यक्तिगत जीवन की सुरक्षा या अन्य किसी इच्छित उद्देश्य की पूर्ति के लिये सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करते हैं। इस प्रकार की झूठी मान्यता तभी संभव हो सकती है जब हम यह पूरी तरह से मान लें कि व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे से अलग है। परंतु मानव विकास के इतिहास में व्यक्ति और समाज दोनों का समान रूप से प्राधान्य है और उनमें से किसी भी एक को प्राथमिक नहीं कहा जा सकता।

(2) समाज का सावयवी सिद्धान्त (Social organism theory)

यह सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितना कि सामाजिक अनुबंध। इसमें समाज की धारणा एक जैविक प्रणाली के रूप में की गयी है और समाज को एक अधिक बड़े जीव के रूप में माना गया है, जो रचना और कार्यो में व्यक्तिगत जीव के समान है और जिसमें उसी की तरह की एकता दिखायी पड़ती है और जिसके विकास, प्रौढ़ता और ह्रास के भी समान नियम है। समाज के कोष्ठ व्यक्तिगत मनुष्य हैं और उसके अंग

प्रत्यंग और प्रणालियाँ संघ और सस्थाएँ हैं। कुछ लेखक समाज में मस्तिष्क, फेफड़ो अथवा शरीर के अंगो के प्रतिरूपों के अस्तित्व को स्वीकार करते है।[3] **कोम्त** के अनुसार समाज की एकता और उसमें व्यक्तियों के सहयोग का विचार सावयव को लेकर ही होना चाहिये। अन्य विचारक यह बताना चाहते है कि समाज जन्म, यौवन, प्रौढ़ता, वृद्धावस्था और मृत्यु की जैविक प्रक्रियाओं से होकर गुजरता है।[4] प्लेटो के रिपब्लिक में, हेगल के राजनैतिक दर्शन और सामूहिक मस्तिष्क को वास्तविक वस्तु मानने वाले **मैक्डूगल** आदि मनोवैज्ञानिकों के कथन में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है।

इस सिद्धान्त से कोई समस्या उत्पन्न न होती, यदि इसमें केवल इस बात पर बल दिया जाता कि समूह में साधारणतया उसके सदस्यों में थोड़े से विशेष प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं। इसके विपरीत इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का आग्रह है कि समाज स्वयं एक मष्तिष्क है जो अपने सदस्यों के लिये सामान्य है। वास्तव मे जहाँ तक हम समाज के ऐसे पहलुओं को जैसे व्यक्तियों की समाजिक व्यवस्था की एकता के अन्तर्गत पारस्परिक निर्भरता को व्यक्त करने की दृष्टि से एक समूह अथवा समुदाय की केवल एक सावयव से तुलना करते हैं तो हमारी उपर्युक्त सदृशता सरल भी है और कभी-कभी उपयोगी भी। परन्तु यदि हम सामाजिक व्यवस्था को स्वयं एक सावयव मानें तो स्थिति बड़ी कठिन हो जाती है, क्योंकि इस विचार को स्वीकार कर लेने पर सामाजिक प्राणी की वैयक्तिकता के प्रति न्याय नहीं हो पाता। सच तो यह है कि केवल व्यक्तियों में समाज का अस्तित्व है। व्यक्ति और समाज का वह संबंध नहीं है जो वृक्ष और उसकी पत्तियों का और कोष्ठों का शरीर से होता है। व्यक्तियों के यथार्थ अस्तित्व में ही समाज के होने का कोई अर्थ है। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की भाँति सावयववाद भी उपर्युक्त संबंध की केवल एकाकी व्याख्या है। इसे व्यक्ति और सामाजिक जीवन के मुख्य संबंध की व्याख्या कदापि नहीं कहा जा सकता।

मनुष्य और समाज के संबंध में प्रचलित इन दोनों प्राचीन सिद्धान्तों के अध्ययन के उपरांत उन अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन अत्यंत आवश्यक है जिन्होंने इस पर विचार किया है । इसके लिये आवश्यक है कि विभिन्न सिद्धान्तों और दार्शनिकों की विचारधारा को प्रस्तुत किया जाये। जो निम्न हैं—

(1) व्यक्तिवादी दृष्टिकोण —

व्यक्तिवादी दृष्टिकोण समाज की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक प्रश्रय देता है। उसकी धारणा का केन्द्र बिंदु समाज न होकर व्यक्ति है। उनका तर्क है कि व्यक्ति ही विभिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त करता है। इसलिये प्रत्येक विचार का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति ही होना चाहिये। व्यक्ति अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये विभिन्न समुदायों, समाज कुटुम्ब, जाति आदि का निर्माण करता रहता है, जिनके लिये साध्य व्यक्ति ही है। समाज को व्यक्तियों के क्रिया-कलाप में आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप भी नहीं करना चाहिये। जिससे निर्बाध रूप से व्यक्ति अपने विकास पथ पर अग्रसर हो सके तथा अपने व्यक्तित्व का सर्वागीण विकास करने में सक्षम हो सके । प्रमुख व्यक्तिवादी दार्शनिक हैं—

जॉन लॉक - लॉक उदारवादी दार्शनिक है। उदारवादी दार्शनिक मानव की प्राकृतिक अवस्था में विश्वास करते हैं। इस अवस्था में मनुष्य बौद्धिक और नैतिक होता है तथा वह कतिपय आन्तरिक मूल्यों की प्राप्ति का प्रयास करता रहता है। उदारवाद के अनुसार मानव बौद्धिक और नैतिक सिद्धान्तों द्वारा नियंत्रित होता है, परंतु प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति स्वयं को पूर्णतया सुरक्षित और सबल नहीं पाता तथा इसी सुरक्षा और सबलता की प्राप्ति के लिये वह समाज के अधीन रहना स्वीकार करता है।

लॉक ने अपनी दार्शनिक विवेचना में ज्ञानमीमांसा (Epistomology) को बहुत महत्वपूर्ण माना है तथा मनुष्य और समाज में क्या संबंध है ? इसकी विवेचना

भी ज्ञानमीमांसा के आधार पर की है। लॉक के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति अनुभव से होती है। हम वस्तुओं के वास्तविक और अनिवार्य स्वरूप का अनुभव नहीं कर पाते अपितु उसके गुणों के द्वारा ही हमें उसके विषय में जानकारी मिलती है। ये गुण दो प्रकार के होते हैं- मूलगुण और उपगुण। इस प्रकार लॉक ने मनुष्य को बौद्धिक द्रव्य (Mental substance) तथा मनुष्य के अधिकारों को उसके गुण के रूप मे प्रदर्शित किया है।

लॉक का विचार था कि प्राकृतिक अवस्था शान्ति, सद्‌भावना, पारस्परिक सहायता और रक्षा की अवस्था है।[5] प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक मनुष्य अपने स्वत्व की जिस प्रकार भी हो सकता है, रक्षा करता है। इस अवस्था मे उसे अधिकार होता है कि वह अपनी चीज की तो रक्षा करे और उसका कर्तव्य होता है कि वह दूसरे की चीज का सम्मान करे। उसका यह अधिकार और कर्त्तव्य उतना ही पूर्ण होता है जैसा किसी शासन के अन्तर्गत।

लॉक ने हॉब्स के विपरीत यह स्थापना प्रस्तुत की कि नैतिक अधिकार और कर्त्तव्य सहज सिद्ध होते हैं। नैतिकता विधि का निर्माण करती है, विधि नैतिकता का नहीं। जो चीजें स्वाभाविक रूप से सही होती है, सरकारों को उन्हें कार्यान्वित करना पड़ता है। इस बारे में वे कानून बाद में ही बनाती है।[6]

स्पष्ट है कि लॉक का सम्पूर्ण सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित था कि वह प्राकृतिक विधि की ठीक-ठीक व्याख्या करता। लॉक के विचार से अन्य समस्त प्राकृतिक अधिकार व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार से ही सादृश्य रखते हैं। उसका तर्क था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार इसलिये उत्पन्न होता है क्योंकि जब व्यक्ति परिश्रम करता है, तब वह अपने परिश्रम से अर्जित पदार्थ में अपने व्यक्तित्व का

आरोपण कर देता है, अपनी आन्तरिक शक्ति का विस्तार करके वह उन्हें अपने व्यक्तित्व का ही एक अंग बना लेता है। सामान्यत: उनकी उपयोगिता इस बात पर निर्भर रहती है कि उनके संबंध में कितना परिश्रम किया गया है।

लॉक ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की उत्पत्ति का जो सिद्धान्त दिया है, उससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य का सम्पत्ति संबंधी अधिकार आदिम समाज से पहले का है। लॉक ने इस आदिम समाज को प्राकृतिक अवस्था का नाम दिया है। उसने कहा भी है —''सम्पत्ति समस्त साधारण जनों के स्पष्ट समझौते के बिना भी रहती है।[7] यह एक ऐसा अधिकार है, जो प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के अभिन्न भाग के रूप में लेकर समाज में आता है। इसका अभिप्राय यह है कि उसने प्राकृतिक अधिकारो को व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार माना है। अत: ये अधिकार समाज तथा शासन के प्रति व्यक्ति के अनुलंघनीय दावे हैं। इन दावों को कभी निराकृत नहीं किया जा सकता क्योंकि समाज का उद्देश्य ही उनकी रक्षा करना है। समाज उन पर उतना ही नियंत्रण रख सकता है जितना उनकी रक्षा के लिये आवश्यक है।

लॉक ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति पूर्णतया स्वतंत्र होता है। प्राकृतिक नियम ही नियंत्रक शक्ति है तथा व्यक्ति इस शक्ति का पालन करने को बाध्य होता है, इसी शक्ति के कारण व्यक्ति अन्य व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधक नहीं होता तथा उसकी स्वतंत्रता के प्रति आदर भाव रखता है। प्र'कृति के नियम ही हमें वह शक्ति प्रदान करते हैं जिससे कि हम अपने अधिकारों का हनन करने वाले व्यक्ति को अपनी शान्त बुद्धि और विवेक के द्वारा यथोचित दण्ड प्रदान कर सकें। लॉक ने मानव बुद्धि और विवेक को अत्यंत महत्पूर्ण माना है क्योंकि इसी के द्वारा अधिकारों और कर्त्तव्यों को परिभाषित करने में सहायता मिलती है।

इस प्रकार लॉक ने अपने दर्शन में सबसे पहले प्राकृतिक अवस्था-जिसको कि उसने शान्ति और पारस्परिक सहायता की अवस्था कहा है, का वर्णन किया है। उसने प्राकृतिक अधिकारों को सम्पत्ति के सादृश्य पर समाज के पहले का बताया है। इसके बाद वह नागरिक समाज के उद्भव का वर्णन करता है। यह समाज अपने सदस्यों की सहमति पर आधारित है। लॉक ने नागरिक सत्ता की परिभाषा इस प्रकार की है— ''यह संपत्ति की रक्षा और विनियमन करने के लिए दंड सहित कानूनों के बनाने का और इन कानूनों के निष्पादन में सार्वजनिक हित के लिये समुदाय की शक्ति के प्रयोग करने का अधिकार है।[8]

इस प्रकार की शक्ति केवल सहमति के द्वारा ही उत्पन्न हो सकती है। नागरिक शक्ति के अधिकार का आधार प्रत्येक व्यक्ति का अपनी और अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने का व्यक्तिगत अधिकार है। शासन सम्पत्ति की रक्षा करने के लिये जिस विधायी और कार्यकारी शक्ति का प्रयोग करता है, यह वही शक्ति है जिसे व्यक्ति ने समुदाय को अथवा जनता को सौंप दिया है। इस शक्ति को हस्तांतरित करने का कारण यह है कि यह प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करने का बेहतर उपाय है। यह मूल समझौता है। इसके द्वारा मनुष्य समुदाय का या राजनीतिक समाज का निर्माण करते हैं। यह समझौता व्यक्तियों का आपस में होता है।[9]

इस सिद्धान्त की कठिनाई यह है कि लॉक ने इस बात को कहीं स्पष्ट नहीं किया है कि 'मूल समझौते' से क्या अभिंप्राय है। यह समाज है या सिर्फ शासन। दूसरी ट्रिटाइज में यह स्पष्ट किया है कि ये दोनों अलग-अलग चीजें हैं। लॉक के सिद्धान्त के अनुसार अधिकार व्यक्ति को ही दिया जा सकता है जब तक कि वह उसे त्याग न दे। लेकिन व्यक्ति अपने अधिकार को इस शर्त के ऊपर छोड़ता है कि समाज और शासन को व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करनी चाहिये।[10]

लॉक के अनुसार जो कार्य समुदाय के सदस्यों के बहुमत से होता है। वह समुदाय का ही कार्य माना जाता है। जब प्रत्येक व्यक्ति दूसरो की सहमति से राजनीतिक समाज का निर्माण करने के लिये तैयार होता है, तब वह इस बात के लिये बाध्य हो जाता है कि वह बहुमत के निर्णय को शिरोधार्य करे। इस संबंध में पुफेनडोर्फ ने ठीक ही कहा है— ''कोई भी समुदाय अपना कार्य अपने सदस्यों की सहमति द्वारा ही कर सकता है। चूँकि, यह समुदाय एक इकाई होता है, अतः समग्र समुदाय की एक निर्दिष्ट नीति होना आवश्यक है। इकाई उसी दिशा में अग्रसर हो सकती है जिस ओर सर्वाधिक झुकाव हो। इसी प्रकार समुदाय की भी वह नीति हो सकती है, जिसको उसके अधिकांश सदस्यों का अनुमोदन प्राप्त हो।''[11]

दूसरे शब्दों में व्यक्ति स्वयं अपने को सुरक्षित रखने में असफल रहता है। परतु एक बौद्धिक और नैतिक प्राणी होने के नाते उसे एक सभ्य समाज की स्थापना की अपेक्षा होती है, जिसको जनसामान्य की सम्पत्ति, जीवन और स्वतंत्रता की पूर्ण सुरक्षा प्रदान की जा सके। अतः समाज की स्थापना का उद्देश्य मानवीय स्वतत्रता की सुरक्षा करना है।

जे० एस० मिल :- जान स्टुअर्ट मिल के सामाजिक दर्शन विशेषकर उसके नीतिशास्त्र का सामान्य दृष्टिकोण जितना बौद्धिक विचारों से प्रभावित था, उतना ही व्यक्तिगत अनुभव से भी। मिल के उपयोगितावाद की विशेषता यह थी कि उसने अपने व्यक्तिगत आदर्शवाद के अनुसार ही नैतिक चरित्र की एक संकल्पना प्रस्तुत की।

ऑन लिबर्टी (1859) नामक पुस्तक में मिल के प्रमुख राजनीतिक विचारों का उल्लेख मिलता है। मिल स्वतंत्रता, आत्मसम्मान और व्यक्तिगत अभ्युदय को अपने आप में अच्छी चीजें मानते हैं। उसके अनुसार ये चीजें सुखको बढ़ाती है; न भी बढ़ाये तो इनको प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिये।

मिल का विश्वास था बौद्धिक और राजनीतिक स्वतत्रता न केवल उस समाज के लिये ही हितकर है, जो उनकी अनुमति देता है, बल्कि उस व्यक्ति के लिये भी हितकर है जो उनका उपभोग करता है। लेकिन मिल के तर्क का कारगर अश उपयोगितावादी नहीं था। जब उसने यह कहा कि सम्पूर्ण मानव जाति को एक असहमत व्यक्ति को चुप करने का अधिकार नहीं है तब वह निर्णय की स्वतंत्रता का भी समर्थन कर रहा था। इस स्वतंत्रता का आशय यह है कि आप अपनी बात मनवाने के लिये किसी व्यक्ति के साथ जोर जबर्दस्ती न कीजिये, बल्कि उसको अपनी बात समझाएँ और यकीन दिलाएँ कि आपकी बात ठीक है। यह विशेषता परिपक्व व्यक्तित्व का लक्षण है। मिल का कहना है कि यदि यह अनुभव किया जाये कि व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास कल्याण की एक प्रमुख शर्त है, वह सभ्यता, उपदेश, शिक्षा और संस्कृति का सहयोगी तत्व ही नहीं है बल्कि इन सब चीजों का एक आवश्यक भाग और शर्त है, तब इस बात का कोई खतरा नहीं रहेगा कि हम स्वतंत्रता की कम कीमत ऑके।[12]

अर्थात् मिल की दृष्टि में राज्य की अपेक्षा व्यक्ति अधिक महत्वपूर्ण है। समाज की वृद्धि के लिये आवश्यक है कि व्यक्ति के विचारों और कार्यों में स्वतंत्रता दी जाये। परंतु कुछ ऐसी भी परिस्थितियाँ हैं जिनमें व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये राज्य व्यक्ति के जीवन में दखल दे सकता है, जैसे-जब मनुष्य स्वतंत्रता के अनुचित प्रयोग द्वारा अपने कर्त्तव्य या दायित्व को भूल जाये, यदि व्यक्ति की स्वतंत्रता दूसरे की स्वतत्रंता में बाधक हो तथा संकट की स्थिति में स्वतंत्रता पर नियंत्रण हो।[13]

बेंथम से भिन्न मिल नैतिक कर्त्तव्य को जितना नैतिक चेतना पर आधारित करते हैं उतना उपोगितावादी आधार पर नहीं। मनुष्य स्वतंत्र होकर मनमानी नहीं कर सकता। उसकी नैतिक चेतना उसके कर्त्तव्य की मार्गदर्शक है। एक मनुष्य में

उत्तरदायित्व के भाव का होना नितांत आवश्यक है, तभी नैतिक विश्वास क्रियान्वित हो सकता है और दूसरी ओर राजनीतिक स्वतंत्रता नैतिक चरित्र को जन्म देती है। सेबाइन के शब्दों में "मिल के विचार से राजनीतिक स्वतंत्रता उच्च प्रकार के नैतिक चरित्र को जन्म देती है। सार्वजनिक प्रश्नों पर उन्मुक्त चर्चा हो, राजनीतिक निर्णयों में हाथ हो, नैतिक विश्वास हो, और उन नैतिक विश्वासों को कार्यान्वित करने के लिये उत्तरदायित्व का भाव हो- जब ये चीजें होती हैं तभी विवेक सम्पन्न मनुष्यों का जन्म होता है। इस तरह का चरित्र निर्माण सिर्फ इसलिये जरूरी नहीं है कि उससे किसी स्वार्थ की पूर्ति होती है। वह इसलिये जरूरी है क्योंकि वह मानवोचित् है, क्योंकि वह सभ्य है।[14]

स्वतंत्रता के नैतिक मूल्यका बखान करने के बाद मिल इस व्यावहारिक समस्या पर विचार करते हैं कि राज्य अथवा समाज उसके ऊपर क्या प्रतिबंध लगा सकता है। मिल का कहना था कि मनुष्य के कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो सिर्फ उससे ही संबंध रखते हैं। मनुष्य के उन कार्यो में न समाज को हस्तक्षेप करना चाहिये, और न राज्य को। उनका कहना है कि जो कार्य केवल एक व्यक्ति से संबध रखता है उसके बारे में व्यक्ति को ही उत्तरदायित्व ग्रहण करना पड़ता है और जब उसे उत्तरदायित्व ग्रहण करना पड़ता है, तो निर्णय का अन्तिम अधिकार भी उसे ही होना चाहिये। किन्तु मिल के तर्क की मूलभूत कठिनाई यह थी कि उसने स्वतंत्रता तथा उत्तरदायित्व के संबंध की वास्तविक व्याख्या कभी नहीं की।

मिल का सामान्य निष्कर्ष यह था कि सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन के लिये दो पद्धतियाँ है। दोनों को एक दूसरे का पूरक होना चाहिये। वे दोनों पद्धति हैं— आगमन और निगमन।

यद्यपि मिल के दर्शन में व्यवस्था और संगति का अभाव है। फिर भी उदारवादी दर्शन के प्रति उसकी देन को चार आदर्शों के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

(1) मिल ने उपयोगिता का महत्वपूर्ण संशोधन किया। उसके पूर्व उपयोगितावाद का नैतिक दर्शन सुख और दुख की तराजू से बंधा हुआ था। मिल ने उसे इस बंधन की मुक्ति दी। कांट की भाँति मिल के नीतिशास्त्र में भी मुख्य विचार मानव जाति के प्रति सम्मान का था। मिल का कहना था कि हमें मनुष्य के प्रति गौरव का भाव रखना चाहिये। तभी हम मनुष्य से नैतिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा कर सकते हैं। उनका विचार था कि व्यक्तित्व को स्वतंत्र समाज की वास्तविक परिस्थितियों में ही सिद्ध किया जा सकता है।

(2) मिल के उदारवाद ने राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रताओं को अपने में ही एक सिद्धि माना था। मिल का मत था कि स्वतंत्रता का महत्व किसी भौतिक स्वार्थ-सिद्धि से नहीं बल्कि इसलिए है कि वह उत्तरदायी मनुष्य की सहज और स्वाभाविक आस्था है। अपने ढंग से जीवन व्यतीत करना अपनी सहज प्रतिभा का विकास करना, सुख को प्राप्त करने का साधन नहीं है, वह खुद सुख का अंग है। अत: श्रेष्ठ समाज वह है जो स्वतंत्रता की अनुमति देता है तथा विविध जीवन पद्धतियों के निर्वाह में उचित अवसर प्रदान करता है। (3) स्वतंत्रता केवल व्यक्तिगत हित नहीं है, वह एक सामाजिक हित भी है। स्वतंत्र विचार विनिमय के द्वारा समाज को भी लाभ पहुँचता है। जिस समाज में विचार स्वतंत्र चर्चा की प्रक्रिया के द्वारा जीवित रहते हैं और मरते हैं वह समाज न केवल एक प्रगतिशील समाज है बल्कि वह ऐसा समाज है, जो स्वतंत्र विवेचन करने वाले व्यक्तियों को भी पैदा करता है। (4) स्वतंत्र समाज में उदारवादी राज्य का कार्य नकारात्मक नहीं बल्कि सकारात्मक है। वह कानून निर्माण

से अलग रहकर या यह मानकर कि चूँकि विधिक प्रतिबंधो को हटा दिया गया है इसलिये स्वतंत्रता की अवस्थाएँ विद्यमान है, नागरिकों को स्वतंत्र नहीं कर सकता। कानून के द्वारा अवसरों का निर्माण, विकास और समानता की स्थापना की जा सकती है। उदारवाद उनके उपयोग पर मनमाने नियंत्रण नहीं लगा सकता।

भारतीय विचार धारा में व्यक्ति को प्रमुख महत्व देने वाले व्यक्तिवादी विचारक है— विवेकानंद, अरविंद, रामतीर्थ।

विवेकानंद (1863-1902)

गिरिराज हिमालय के चिरशुभ्र हिमाच्छादित शिखरों से तीव्रवेग से फूटकर निकलने वाले कितने झरने एवं गरजते हुए जलप्रपात, कितने बरफीले नाले और सतत प्रवाही नदियाँ एक साथ मिलकर विशाल सुर-सरिता गंगा जी के रूप में प्रवाहित होती हुयी समुद्र की ओर भयंकर वेग से दौड़ती हैं। उसी प्रकार अगणित संतों के हृदय से तथा विभिन्न भू-भागों के प्रतिभाशाली व्यक्तियो के मस्तिष्क से उत्पन्न हुये कितने प्रकार के भावों तथा विचारों एवं शक्ति प्रवाहों ने उच्चतर मानवी कार्यो के प्रदर्शन क्षेत्र कर्मभूमि भारत को पहले से ही व्याप्त कर रखा है। स्वामी विवेकानंद भी उन्हीं में से एक है। जिन्होंने अपने गुरू रामकृष्ण परमहंस की कृपा से ज्ञान प्राप्त होने पर मानवमात्र की सेवा को अपना लक्ष्य बना लिया। वे दीन-हीन मानवों की भी सेवा में ही ईश्वर का रूप देखते थे। और उसी में ईश्वर को खोजते थे। मनुष्य और समाज के संबंध में उनके विचार इस प्रकार हैं।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार भिन्न-भिन्न मानव वंशों के संयोग से हमारे वर्तमान समाजों-रीतियों और रूढ़ियों का विकास होना प्रारंभ हुआ। नये विचार उत्पन्न होते गये और नये विज्ञानों का बीजारोपण होने लगा। एक श्रेणि के मनुष्य हस्तकौशल

या बौद्धिक श्रम द्वारा उपयोग और आराम की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बनाने लगे तथा दूसरे वर्ग के मनुष्यों ने उनके संरक्षण का भार अपने ऊपर ले लिया, और वे इन सब वस्तुओं का विनिमय करने लगे। इसी प्रकार कुछ चतुर लोगों ने इन वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने का काम अपने ऊपर लिया और वे इस कार्य के पारिश्रमिक शुल्क के बहाने लाभ का अधिकांश भाग स्वयं ही लेने लगे। रखवाली करने वाला राजा कहलाने लगा एव वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाला व्यापारी बना।

इन दोनों ने उत्पन्न तो कुछ भी नहीं किया। पर तो भी उन्होंने उन वस्तुओं का उत्तमांश छीन लिया। कृषक के श्रम और मजदूरी के फलों का अत्याधिक लाभ उठाकर वे स्वयं तो मोटे ताजे बन गये और बेचारा कृषक जिसने इन सब वस्तुओं का उत्पादन किया, भूखों मरने लगा और ईश्वर से सहायता माँगने लगा। समयानुसार ये समस्याएँ जटिल होती गयीं और गुत्थियाँ उलझती चली गयी। बस इसी उलझन और गुत्थियों के जाल से हमारे वर्तमान जटिल समाज का विकास हुआ है।[15] ''ब्राह्मण, क्षत्रिय, इत्यादि ये समाज के विभिन्न वर्णो के नाम हैं जिसमें उसके अपने भीतर ध्येय तक पहुँच जाने पर भी सतत् घट-बढ़ होता रहता है और तत्पश्चात् उनके अपने दायरे के भीतर निम्नतर जातियों और विदेशवासियों का बलात् प्रवेश हो जाने से उनका सम्पूर्ण प्रयत्न, अन्य वर्ण या जातियों के साथ विवाह निषिद्ध करके अपने वर्ण को सुदृढ और विशुद्ध बनाये रखने की ओर होता है पर अन्ततः सब एक हो जाते हैं।[16]

दूसरे शब्दों में ये जो समाज का विभाजन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र् के रूप में किया गया है वे सभी समाज के ही अंग है केवल समाज को सुचारू रूप से चलाये जाने और शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के लिये ही मनुष्यों को उनके कार्यो के आधार पर बाँटा गया था। उसमें भी उनकी संख्या में घटाव या बढ़ाव होता रहता है

जैसे कि यदि कोई विदेशी या अपने से नीची जाति का व्यक्ति जर्बदस्ती उनकी जाति में विवाह करना चाहता हो, तो भी उनका यह प्रयास रहता है कि अन्य वर्ण या जातियों में उन्हें विवाह न करना पड़े ताकि उनका वर्ण विशुद्ध बना रहे।

विवेकानंद के अनुसार, तब फिर भारतवर्ष की सामाजिक व्यवस्था का आधार क्या है— वह है जाति नियम। मैं जाति के लिये जन्म लेता हूँ और जाति के लिये ही जीता हूँ. जाति में जन्म लेने पर जाति के नियमों के अनुसार ही सम्पूर्ण जीवन बिताना होगा। या आधुनिक भाषा में हम इसे यों कह सकते हैं कि पाश्चात्य मनुष्य मानों वैयक्तिक रूप से जन्म लेता है और हिन्दू सामाजिक रूप में। इसलिये मैं अपने विवाह के बारे में खुद नहीं बोल सकता, और न ही अपने विवाह के बारे मे मेरी बहन ही बोल सकती है। जाति ही उन सबका निर्णय करती है।[17]

विवेकानंद के विचार में सभी हितकर और सामाजिक परिवर्तन आभ्यान्तरिक, आध्यात्यिक शक्तियों की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ है और ये शक्तियाँ यदि सबल और ठीक तरह से संयोजित हो तो समाज तदनुसार अपनी रचना कर लेगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समस्या स्वयं हल करनी है इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बालक — जाति या जन्म निर्बलता या सबलता का विचार न करते हुये यह बात सुने और सीखे कि सबल और दुर्बल, उच्च और नीच प्रत्येक के भीतर वह अनन्त आत्मा है जो सभी को महान और सत्पुरुष बनने की अपरिमित संभावना और अपरिमित योग्यता का विश्वास दिलाती है। प्रत्येक व्यक्ति को हम यही पुकार कर कहें कि —''उठो ! जागो! और उद्देश्य की प्राप्ति होने तक रूको मत।''[18] (उत्तिष्ठत्, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।) उठो ! जागो! दुर्बलता की मोहिनी से जग जाओ! सच पूछो तो दुर्बल कोई नहीं है, आत्मा अनन्त है। सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ हो। खड़े होओ, अपना अस्तित्व स्थापित करो, अपने अन्त:स्थित ईश्वर की घोषणा

करो, उसके अस्तित्व का निषेध मत करो। स्वामी विवेकानंद के अनुसार गीता में यदि कोई बात मेरे मन के लायक है तो वह इन्हीं दो श्लोकों में है। भगवान श्रीकृष्ण के उपदेश में यही अत्यंत शक्तिशाली और सारभूत तत्व है।[19]

''समं सर्वेषु भूतेषुतिष्ठन्त परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्व विनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥''
'' समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थित मीश्वरम्।
न हिनस्तयात्मनात्मानं ततो याति परागतिम्॥''

अर्थात् जो सर्वभूतों में समान रूप से बसने वाले परमेश्वर को, नाशवान वस्तुओं में उस अविनाशी को देखता है वही यथार्थ में देखता है क्योंकि सर्वत्र वर्तमान परमेश्वर को समान देखते हुये वह अपना नाश आप ही नहीं करता और इस प्रकार परम गति को प्राप्त हो जाता है।

अर्थात् सर्वभूतों के अन्तःस्थित एकत्व में विश्वास करने से सर्वहितों की प्राप्ति होती है। यही महान् वेदान्तिक आदर्श है।

स्वामीविवेकानंद के अनुसार मानव समाज का शासन क्रमशः एक दूसरे के बाद चार जातियों द्वारा हुआ करता है और ये जातियॉ है— पुरोहित, योद्धा, व्यापारी, मजदूर। सबसे अंत में मजदूर या शूद्र का राज्य आयेगा उससे लाभ तो ये होगा कि भौतिक सुख–साधनों का समान रूप से वितरण होगा परंतु हानि के रूप में संभवतः संस्कृति का अधःपतन हो जायेगा। साधारण संस्कृति का विस्तार बहुत बढ़ेगा पर असाधारण बुद्धिमान लोग अधिक मात्रा में कम होते जायेंगे। प्रथम तीन तो अपने दिन भोग चुके। अब चौथी अर्थात शूद्र जाति का समय आया है। उनको वह मिलना ही चाहिये उसे कोई रोक नहीं सकता। समाज के सभी व्यक्तियों को धन, विद्या, ज्ञान अर्जित करने के लिये एक समान अवसर मिलना चाहिये। हर एक विषय में स्वतंत्रता

अर्थात् मुक्ति की ओर प्रगति ही मनुष्य के लिये उच्चतम लाभ है। जो सामाजिक नियम इस स्वतंत्रता के विकास के मार्ग में बाधक हैं, वे हानिकारक हैं और उनको नष्ट करने का उपाय शीघ्रता से करना चाहिये। और जिन संस्थाओ के द्वारा मनुष्य स्वतंत्रता के मार्ग पर अग्रसर होता है उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिये।

स्वामी रामतीर्थ

स्वामी रामतीर्थ ने मनुष्य और समाज के संबंध में जो विचार दिये हैं वो विश्व मानवता अर्थात् मनुष्य मात्र के भ्रातृत्व भाव पर आधारित हैं। उनके अनुसार प्राचीनकाल से ही हमारे जीवन का बीजमंत्र था—

''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतुनिरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद्दुरवमाप्नुयात्॥''

अर्थात् सभी मनुष्य सुखी हो, सभी निरोग हो सबके चारों ओर कल्याणकारी दृश्य हो और किसी को भी दुख प्राप्त न हो। स्वामी राम इस विचारधारा के प्रबल समर्थक थे। वे कहते हैं — ''जब हम लोग यह अनुभव करते हैं कि संसार के सब मनुष्य हमारी अपनी ही आत्मा है तो हमें कितनी प्रसन्नता होती है।[20]

स्वामी राम के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य दूसरों को ऊँचा उठाना, उनसे हमदर्दी करना है परंतु अपने व्यक्तिगत शरीर के प्रति हमारा यह फर्ज है कि हम अपने को सभी प्रकार की परिस्थितियों में हर्षित रखे, सुखी अनुभव करें। सब प्रकार की बेचैनी तथा क्लेशों से बचे रहे। जब हम स्नेह, दया, विशाल हृदयता की भावनाओं को, किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति सम्मान की भावना को अपने मन से पुष्ट करते हैं, तो दूसरा व्यक्ति सहस्रों मीलों की दूरी पर रहता हुआ भी उन सम्पूर्ण भावनाओं का

अनुभव करने पर विवश होता है। क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि हम सबके चित एक ही स्तर पर हैं तथा उनमें परस्पर घनिष्ठ संबंध हैं। मानसिक जगत में हम सभी परस्पर भाई-भाई हैं। ''यदि आप अपने को व्यथा तथा कष्ट से बचाये रखना चाहते हैं, यदि और सुख तथा आनन्द पाना चाहते हैं तो प्रत्येक के साथ अपनी अभिन्नता (एकता) का अनुभव कीजिये।''[21]

यह एक सत्य है जिसकी सत्यता की परीक्षा केवल अनुभव से, प्रयोग से, अमल से ही हो सकती है और किसी प्रकार से नहीं। स्वामी राम के अनुसार हमारे अन्दर अमूल्य रत्न विद्यमान है परंतु उन पर हमने स्वयं अपने हाथों से, अपनी ही कोशिशों से पर्दा डाला हुआ है। यही कारण है कि हम अपने आपको दीन-हीन अभागा मान लेते हैं। वे कहते हैं कि ''उस परमेश्वर को आलिंगन में लेकर, उसे स्वीकार करके उससे अभिन्न होकर, उससे इस कोटि तक एक हो जाओ कि अलगाव का लेषमात्र भी शेष न रहे।''[22]

स्वामी राम कहते हैं कि मनुष्य - मनुष्य एक है। आप किसी से भी पूँछकर देखिए—''आप कौन है ? वह कहेगा— ''मैं मनुष्य हूँ।'' राम आपसे यह चाहता है कि आप अपने ऊपर दया कीजिये, अनुकम्पा कीजिये। सब कुछ छोड़कर मनुष्य बन जाइये। ''सभी शरीर ओस की बूँदों के तुल्य है। वास्तव में जो मनुष्य (आत्मा) है वह सूर्य के समान है, प्रत्येक ओसकण में उसी भास्कर का प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बत होता है।''[23]

अत: राम के अनुसार आप सब एक हैं। सभी मनुष्य एक हैं। अपने क्षुद्र देहाभिमान से ऊपर उठते ही आपकी समस्त विश्व के मानव मात्र से एकता हो जाती है आपको ज्ञान हो जाता है ''यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे''।

समस्त संसार से आपकी एकता हो जाती है कितना ऊँचा विचार है! कैसी महान भावना है आप सब से एक हो जाते हैं। सम्पूर्ण जगत से आपकी एकता हो जाती है। राम कहते हैं कि ''जिस समय अन्तःकरण बिल्लौर के समान स्वच्छ हो जायेगा तो ज्ञान रूपी प्रकाश आपके प्रयत्न और खोज के भीतर से प्रज्जवलित होता हुआ दूसरों के हृदयों को प्रकाशित करेगा।''[24]

यदि चित्तों में संसार के उद्धार का आवेश उठता है तो ऐ सहानुभूति करने वालों पहले अपने आपको सुधारो और जब इस रीति से आपका सुधार हो जायेगा तो यह अवश्य समझ लेना कि दूसरों का भी अपने आप सुधार हो जायेगा। इसलिये भगवन! स्वच्छ या शुद्ध अन्तःकरण बनाने के लिये यह आवश्यक है कि आप श्वेत वस्तुओं के समान मन को समस्त संसारिक पद्धार्थो का पीछा करने से हटा दें और मन में उनका जरा भी प्रवेश न होने दें। इस प्रकार के आचरण करने पर आपके रोम-रोम से ये आवाज प्रत्येक को सुनायी देगी कि त्याग ही अन्तःकरण की शुद्धि का एकमात्र साधन है किंतु यह अमृत उसी समय प्राप्त होगा जब आप मन को पदार्थो से रिक्त रखेगें। इस अमृत को पाने के लिये श्रुति भगवती यह सिखाती है—

''धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृताः भवन्ति''

अर्थात् धैर्यवान पुरूष इस जगत में मुँह मोड़कर अमृत हो जाते हैं तो उठो! उठो ! मन को आत्मा में स्थित करो क्योंकि मन का आत्मा में स्थित होना ही हल्का होकर ऊपर उठ जाना है।[25] राम के अनुसार जीवन मुक्त मानव समस्त विश्व के बारे में विश्व आत्मा की एकता की चेतना में रहता है। वह भेदभाव से संबंध नहीं रखता। प्रेमद्वारा वह सबको अपनाकर वह सब तरह की लालसाओं पर विजय प्राप्त करता है। जहाँ श्रम से प्रेम किया जाये वहाँ जीवन में प्रकाश प्रकट होता है। हे सम्पन्न

भारतीयो! तुम परमात्मा को ठग नहीं सकते। अपने को पापी कहकर तुम परमेश्वर का प्रेम नहीं प्राप्त कर सकते। हे दरिद्र हृदय वाले धनवानों! तुम ऊँचे-ऊँचे धवल मन्दिर और पत्थर की विष्णु मूर्तियाँ बनाकर अपने हृदय की अशान्ति को दूर नहीं कर सकते। देश में दरिद्र नारायण की तथा मजदूरों की, इन सच्चे विष्णुओं की तुम पूजा करो। हिन्दुस्तान के निर्धन विद्यार्थियों को कला कौशल तथा उद्योग धंधे सीखने के लिए विदेशो में भेजो। आप भी उस ईश्वर के प्रेमपात्र हो सकते हैं यदि आप उसे केवल पाषाणमूर्तियों में ही बंद न करके बल्कि उसके दर्शन सब मनुष्यों में करें।

जहाँ सत्य नहीं वहाँ प्रेम भी संभव नहीं। किसी मनुष्य को यदि कोई अधिकार है तो बस सेवा करने का। जिस परमात्मा ने लघु से लघु बूँद से विकसित करके हमें दैवीरूप मनुष्य का स्वरूप दिया है, उस परमेश्वर का पूर्ण विश्वास किया जा सकता है। राम कहते हैं कि ''परमात्मा का सिर्फ एक हाथ नहीं है, सभी हाथ उसके हाथ हैं। सब नयन उसके नयन हैं। सब मन उसके मन हैं। किसी मनुष्य से बर्ताव करते हुये क्या आपने कभी इस बात की चिन्ता की है कि वह आपको उसी हाथ से चीज वापिस देता है जिस हाथ से उसने ली थी ? वह दूसरे हाथ का भी प्रयोग कर सकता है।''[26]

प्रेम के द्वारा ही आप समस्त विश्व को अपना और सर्वथा अपना बना सकते हैं। प्रेम द्वारा ही आप न्यायपूर्ण स्वामित्व प्राप्त कर सकते हैं। जो मनुष्य जितना अधिक त्याग कर सकता है। वह उतना ही धन संपन्न होता है।

स्वामी राम के अनुसार स्वार्थ भावना ऊँची से ऊँची पदवी को भी कष्टदायी, दुखदायी बना देती है। जीवन में आपकी स्थिति भले ही कैसी हो। प्रेम उसमें मधुरता ला सकता है।[27]

"That which is forced in never forcible",

अर्थात् जो काम बल से कराया जाता है, वह कभी प्रबल नहीं होता। इस तुच्छ अहकार को यदि आप प्रेम रूपी अनन्त समुद्र में विलीन कर दें तो आप पर उस ईश्वर की असीम अनुकम्पा होगी। उसकी प्रसन्नता से आप सत्‌चित् आनन्दधन् हो जायेंगे तब आपके अन्तःकरण से स्वतः ही परम कल्याणमय भाव प्रवाहित होने लगेगा, जो वीरतामय कर्मो में व्यक्त होगा। यह विद्या है यही पुण्य है। यही परमात्मा प्रेरित जीवन है। यही मानव का जन्म सिद्ध अधिकार है।

परंतु सिर्फ सत्संग द्वारा ही यह भावना रूपी ज्योति उद्‌दीप्त होती है भले ही प्रकृति का संग हो अथवा ज्ञानी महापुरुषों का, प्रबुद्ध महात्माओं के लिखित ज्ञान से संग हो अथवा उपदेश से। परंतु केवल सत्संग द्वारा ही ज्ञान रूपी अग्नि उद्‌दीप्त होती है। केवल एक ही आत्मा है जो सर्व में एक है, सर्वरूप है वह अद्वितीय है। ये सभी देहें आत्मा की है। इनमें कोई अंतर नहीं है जिस प्रकार भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाश को अलग-अलग नामों से जाना जाता है— इंग्लिश में लाइट' (light) जर्मन में 'लिच्ट' (licht)। फिर भी प्रत्येक नाम में प्रकाश वहीं है, एक है जो सभी जगह है। नामों के कारण आत्मा में कोई अंतर नहीं पड़ता। इसी प्रकार यह आत्मा (ब्रह्मा) वस्तुतः सर्वरूप है।

जब हम समस्त संसार से अपने को काटकर अलग हो जाते हैं, तब हम कष्ट पाते हैं दुखी होते हैं। जब तक मानव को अपनी विश्वव्यापकता (मानव मात्र से अभिन्नता) का अनुभव नहीं होगा, तब तक उसे शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

महर्षि अरविंद

महर्षि अरविन्द आधुनिक भारत के एक महान दार्शनिक हैं। अरविंद के अनुसार विकास का प्रारंभ जड पुद्‌गल (matter) से होकर उसमें चैतन्य (प्राण,

Life, consciousness) आया तथा चैतन्य से मानस (mind) आविर्भूत हुआ। अब मानस के बाद अतिमानस (super mind) अवस्था आने वाली है। अंतिम अवस्था सच्चिदानंद स्वरूप है। अरविंद के अनुसार उत्तरवर्त्ती विकसित अवस्था प्राप्त होने पर पूर्ववर्ती अवस्था नष्ट न होकर, उत्तरवर्त्ती अवस्था के संगम से उसका उदात्तीकरण हो जाता है। निम्न अवस्था का "उद्गमन" या उद्धार होकर वह श्रेष्ठ अवस्था को प्राप्त होती है तथा उस श्रेष्ठ अवस्था का अवगमन या अवतरण (Descent) होकर वह कनिष्ठ अवस्था में (उसे नष्ट करके) प्रविष्ट हो जाती है। इस प्रकार विकास के प्रत्येक चरण में वर्तमान तथ्य नष्ट न होते हुए उन्नत होते जाते हैं, क्रमशः होने वाली प्रगति से पूर्व अवस्थाएँ अपना अस्तित्व कायम रखती हुयी अधिक प्रकाशित, उन्नत, उत्क्रांत, विकसित, सूक्ष्म एवं स्पष्ट होती रहती है। जड़ में प्राण आया तो जड़ नष्ट नहीं हुआ अपितु वह सप्राण हुआ। इसी प्रकार मानस अवस्था प्राप्त होने पर सजीव (सप्राण) जड़ और अधिक उन्नत हुआ।

वर्तमान में विश्व मानस अवस्था के युग में है। अरविंद के अनुसार अब समय आ गया है कि मानस अधिमानस में उन्नत हो, वर्तमान विभिन्न सामाजिक तथा राष्ट्रीय संघर्ष, दुख, अन्याय, अत्याचार एवं विनाश इन सबसे मुक्ति पाने का एक निश्चित इलाज अतिमानस अवस्था प्राप्त करने में है। मानव संस्कृति इस यंत्र युग में अब इतनी विकृत हो गयी है कि उसका ठीक नियंत्रण मानस के बस की बात नहीं है। सामान्य मनुष्य की भूमिका से वर्तमान जागतिक संघर्षो का स्थायी समाधान संभव नहीं, इसलिये इस दिशा में किये जाने वाले सारे मानवीय प्रयास एवं प्रयोग असफल हो रहे हैं। भीषण आणविक शस्त्रास्त्रों से सारी मानव जाति भयभीत है। अतिमानस का अवतरण ही इस संसार को अब वास्तविक शांति प्रदान कर सकेगा।[28]

किंतु अरविंद अतिमानस का आगमन मात्र एक-दो विशिष्ट व्यक्तियों में ही नही अपितु सारे समाज में चाहते हैं। उनका एकीकृत योग केवल व्यक्ति रूप जीवात्मा के उद्धार के लिये ही न होकर सम्पूर्ण विश्व के विकासार्थ है। साधक का दिव्य पूर्णत्व तभी वास्तविक कहा जायेगा जब वह स्वयं में तथा अन्य सभी प्राणियों में एक चैतन्य स्रोत तथा विश्वव्यापी प्रेम का अनुभव करेगा। इसकी पुष्टि गीता[29] के कुछ श्लोको से होती है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ 5 - 7

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मानि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ 6 - 29

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।

विनश्यत्स्व विनश्यन्ते यः पश्यन्ति स पश्यति॥ 13-27

''जिसका चित्त योग सम्पन्न है, अन्तःकरण विशुद्ध है, जो स्वयं पर नियंत्रण रखता है, जिसने इन्द्रियों को जीता है, तथा जो सब प्राणियों में स्वयं को अनुभव करता है। वह (आवश्यक उचित) कर्म करता हुआ भी उनमें लिप्त (आशक्त) नहीं होता 5-7, सर्वत्र समृद्धि रखने वाला योग सम्पन्न व्यक्ति सब प्राणियों में स्वयं को एवं स्वयं में सब प्राणियों को देखता है (अनुभव करता है) 6-29, सभी विनाशशील प्राणियों में समान रूप से स्थित अविनाशी परमेश्वर को जो जानता है वही वास्तविक सत्य है। 13-27

अरविंद के अनुसार किसी व्यक्ति की मुक्ति अन्तिम रूप से तभी होगी जब संसार के सारे व्यक्ति पूर्णत्व प्राप्त कर लेंगे। जब विश्व भर में मानस का अतिमानस मे

पूर्ण विकास हो जायेगा। वे कहते हैं व्यक्ति जब काम क्रोधादि रिपुओं पर विजय पाने की चेष्टा करता है, तब उसे चाहिये कि उन्हें केवल अपने ही वैयक्तिक शत्रु न मान कर मानव मात्र के शत्रु के रूप में उनसे संघर्ष करें। दूसरे शब्दों में केवल अपने मन में काम-क्रोधादि पर काबू पाने का विश्वास कर किसी को स्वयं को कृतार्थ नहीं मानना चाहिये, अपितु पूरे मानव मानस से उन्हें हटाने की इच्छा करनी चाहिये। महामारी से केवल अपना घर ही नहीं, सभी के घर मुक्त करना है तभी गॉव की उन्नति होगी और सच्चे अर्थ में अपनी भी। जो व्यक्ति स्वय शिक्षा पाकर दूसरों को शिक्षित करने का प्रयास नहीं करता, क्या उसने विद्या का वास्तविक स्वरूप एवं महत्व समझ लिया है। और क्या उसे सच्चा ज्ञानी कहा जा सकेगा?

अतः अरविंद का अतिमानस से सम्पन्न महामानव[30] भौतिक सुख-दुखों से ऊपर उठकर आध्यात्मिक शक्ति की उपासना करेगा, जिसका उपयोग वह सर्वभूतहित में करेगा। समस्त जीवों के प्रति वह एकात्मकता की दृष्टि रखेगा। सारी दुनिया के लिये उसके हृदय में प्रेमभाव होगा। किसी अन्य पर पाशवी प्रभुत्व या अत्याचारी हिंसा का शासन करने की उसके मन में कोई महत्वाकांक्षा नहीं होगी।

किन्तु यहाँ कुछ प्रश्न उठते हैं कि यह अतिमानस अवस्था कैसे प्राप्त होगी? क्या यह अतिमानसिक अवस्था एक ही जन्म में प्राप्त हो सकेगी ? या उस हेतु पुर्नजन्म आवश्यक हैं। अरविंद कहते हैं कि जन्म और मृत्यु के विषय में जितना भी हमें ज्ञान है, उससे प्रायः यही विश्वास जागृत होता है कि जन्म से पूर्व तथा मृत्यु के पश्चात् जीव की कोई स्थिति अवश्य होनी चाहिये। यद्यपि अभी तक उसका कोई अन्तिम बुद्धिगम्य प्रमाण प्राप्त नहीं हो सका है। अरविंद के अनुसार जड़ से वनस्पति रूप धारण करना, वहाँ से पशुयोनि में उन्नत होना और फिर मानव शरीर में व्यक्त होना ये सब पुर्नजन्म ही है।[31] इसके अलावा एक बार आत्म तत्व का मनुष्य स्तर पर आने के

बाद भी पुर्नजन्म आवश्यक होता है क्योंकि एक ही मनुष्य जन्म में आत्मा का सब विकास पूर्ण नहीं होता और मनुष्य देह में संभव सम्पूर्ण आत्मा विकास प्राप्त करने के बाद भी अधिमानस अवस्था में, विकास का वही क्रम जारी रखना और उसके अनुरूप किसी अन्य प्रकार के देह में और भी पुर्नजन्म आवश्यक हो सकते हैं। कूछ भी हो अधिमानस अवस्था में पुर्नजन्म लेते - लेते जब प्रगति पूर्ण उपलब्ध हो जायेगी तब सच्चिदानंद स्वरूप की प्राप्ति होगी, जहाँ जन्म-मृत्यु श्रृंखला समाप्त हो जाती है। "The life Devine" ग्रंथ के अंतिम अध्याय में अरविंद ने अपने समग्र विवेचन का सार व्यक्त किया है उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं -"इस ससार में हमारे अस्तित्व का मूलाधार वह स्वयंपूर्ण दिव्य तत्व है, जो पहले अवक्रान्त होकर जड़ावस्था तक पहुॅचा और फिर वहाँ से क्रमशः विकसित होकर अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति की ओर बढ़ रहा है। उसीकी प्राप्ति में हमारी अन्तिम सार्थकता एवं सफलता है। आज हम विकास क्रम में साधारण मानस की अवस्था में हैं। अब अतिमानस अवस्था तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिये, जो अन्ततोगत्वा उस परम्सच्चिदानंद स्वरूप ईश्वरी तत्व में हमें पहुॅचायेगा।[32]

वही तत्व इस सृष्टि में सर्वत्र विद्यमान है, वही जड़ में, प्राण में, मानस में, जीवात्मा में है। इसलिये जीवात्मा द्वारा उसकी प्राप्ति मूलस्वरूप की ही पुर्नप्राप्ति है। आध्यात्मिक जीवन उस ईश्वरीय तत्व की ओर प्रगति है किंतु केवल व्यक्ति की उन्नति नहीं अपितु समग्र मानव जीवन का आध्यात्मीकरण या ईश्वरीकरण ही विकास का अन्तिम लक्ष्य है।

दिव्य जीवन में प्रवेश हेतु हमें अपने व्यक्तित्व को शारीरिक, मानसिक तथा प्राणिक आवरणों के ऊपर उठाना होगा। हम अपने भीतर विशुद्ध आध्यात्मिकता का निर्माण करेंगे। दूसरे शब्दों में हम चित्तशुद्धि करेंगे।[33] तभी वहाँ ईश्वर का प्रवेश संभव

होगा। हम शिक्षा, कानून, राज्य शासन, सामाजिक व्यवस्था आदि क्षेत्रों में चाहे जितने सुधार करें। फिर भी जब तक मानव की स्वभाव रचना रजोगुण और तमोगुण से व्याप्त प्राय: वर्तमान मानव अवस्था से ऊपर उठकर आध्यात्मिक नहीं होती, तब तक सुधार बाहरी एवं अपर्याप्त होंगे। हमारा मुख्य अस्तित्व अपने भीतर है। वही हमारा वास्तविक ईश्वरी स्वरूप है। उसी की जीवन में अभिव्यक्ति हमारा कर्त्तव्य है। हमारी इन्द्रियों की दिशा बहिर्वर्ती होती है। उसे अन्दर की ओर मोड़ना है तभी वास्तविक आत्म तत्व का दर्शन होगा जो अभी सुप्त है। निश्चय ही साधारण जीवन में यह अन्तर्दर्शन आसान नहीं। फिर भी सच्ची उन्नति का कोई दूसरा अन्य मार्ग भी नहीं है। वास्तविक आत्म ज्ञान के आधार पर मानव-मानव में एकात्मकता की अनुभूति होने पर ही इस संसार के संघर्ष समाप्त हो सकेंगे। मानव जीवन का यह महान शोध है। इसी से दिव्य जीवन संभव है।

(2) समाजवादी दृष्टिकोण -

यह दृष्टिकोण व्यक्तिवादी विचारधारा का विरोधी है तथा व्यक्ति को पूर्णरूपेण समाज पर आधारित मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव अपने सर्वोत्तम लक्ष्यों की प्राप्ति समाज़ में रहकर ही कर सकता है। समाज के प्रति समर्पित जीवन ही उच्च जीवन है। यह सिद्धान्त समाज को आवश्यक बुराई नहीं अपितु अच्छाई मानता है।

आधुनिक प्रत्ययवादी कांट, हेगल आदि समाज को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानते हैं। समाज के अधीन रहकर मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति करता है। समाज से पृथक उसकी कोई सत्ता नहीं होती। **काण्ट** - ''समाज एक अलौकिक सत्ता है, उसकी आशा का पालन किया जाना चाहिये, उसका विरोध नहीं किया जा सकता। समाज द्वारा बनाये गये नियमों की आलोचना भी नहीं की जा सकती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त समाज को सर्वोच्च स्थान प्रदान करता है।

समाजवादी दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य और समाज के बीच क्या संबंध है? दोनों एक दूसरे से किस प्रकार संबन्धित है। इसे जानने के लिये विभिन्न समाजवादी दार्शनिकों के विचारों का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है। जो कि निम्नवत है :-

थॉमस हॉब्स (Thomas Hobbes)

वास्तव में हॉब्स पहले आधुनिक दार्शनिक थे जिन्होंने राजनैतिक सिद्धान्त का आधुनिक विचारधारा के साथ सांमजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। हॉब्स ने मनुष्य और समाज को केवल आत्महित के सन्दर्भ में ही वर्णित किया है। इसमें उन्होंने किसी अतीन्द्रिय सत्ता के आदेश अथवा तत्ववैज्ञानिक धारणा जैसे 'सामान्य शुभ' आदि किसी अन्तिम कारण को न मानते हुये डेकार्ट की वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करते हुये समस्या की व्याख्या और परिभाषा स्पष्ट और निगमनात्मक ढंग से की है।

हॉब्स का विचार था कि मूल में प्रत्येक घटना एक गति के रूप में होती है। प्राकृतिक प्रक्रियायें विभिन्न सश्लेषों के मेल से घटित होती है। इन संश्लेषों के मूल में भी कुछ गतियॉ ही रहती है। यदि हम प्राकृतिक प्रक्रियाओं को समझना चाहते हैं तो हमें इन मूल गतियों को समझना आवश्यक है।[34]

हॉब्स के अनुसार मनौवैज्ञानिक रूप से अनिवार्य कारण यह है कि प्रत्येक प्राणी अपनी जीवनी शक्ति को कायम रखने और बढ़ाने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहता है अर्थात् सम्पूर्ण व्यवहार के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त - आत्मरक्षा का उद्देश्य मनुष्य के जैविक अस्तित्व को कायम रखना है। जो चीज इस काम में सहायता देती है वह अच्छी है, और जो सहायता नहीं देती वह बुरी है। जीवन में आत्मरक्षा के साधनों की खोज प्रत्येक कदम पर करनी पड़ती है। चूँकि सुरक्षा के साधम कम हैं इसलिये जीवन संघर्ष अनिवार्य एवं अनन्त है। चूँकि सुरक्षा की इच्छा मानव की मूल आवश्यकता है। इस इच्छा को शक्ति की इच्छा से अलग नहीं किया जा सकता। हमारे अंदर आज

सुरक्षा की जितनी भावना है उसे निरन्तर और सशक्त करने की जरूरत है। **लेवियाथन** में आत्मरक्षा का उल्लेख करते हुये हॉब्स कहते हैं कि – ''सम्पूर्ण मानव जाति शक्ति की शाश्वत और अविश्रांत इच्छा से प्रेरित है। इस लालसा का अंत मृत्यु के साथ ही होता है। इसका कारण यह नहीं है कि मनुष्य के पास इस समय जितनी खुशी है वह इससे अधिक खुशी चाहता है, या उसका कुछ कम शक्ति से काम नहीं चल सकता। इसका कारण यह है कि मनुष्य के पास इस समय जीविका के जो साधन हैं और जो शक्ति है, बिना और अधिक प्राप्त किये हुये उसकी रक्षा का आश्वासन नहीं होता।[35]

अतः मनुष्य को निरन्तर सुरक्षा की आवश्यक है। उसे हर तरह की शक्ति चाहिये, धन चाहिये, पद चाहिये, सम्मान चाहिये। ये सारी चीजें उस विनाश को रोकतीं हैं जो एक न एक दिन अंत में हर मनुष्य के ऊपर आता है।

हाब्स के अनुसार समाज से बाहर की अवस्था में भी मनुष्य के सामने मुख्य लक्ष्य अपनी सुरक्षा अथवा अपनी शक्ति का होता है। उसके लिये दूसरे मनुष्यों का उसी सीमा तक महत्व है जहाँ तक वे इस पर असर डालते हैं। चूँकि शक्ति और बुद्धिमत्ता में प्रायः सभी मनुष्य बराबर हैं। इसलिये जब तक उनके व्यवहार पर नियंत्रण रखनें के लिये कोई नागरिक शक्ति न हो तब तक मनुष्य की हर मनुष्य के साथ लड़ाई है। इस तरह की स्थिति सभ्यता के प्रतिकूल है। इस स्थिति में उद्योग-धंधों, नौवहन, काश्त, शिल्प, कला तथा साहित्य किसी की भी उन्नति नहीं हो सकती। इस अवस्था में मनुष्य का जीवन एकान्त, निर्धन, धृणित, जंगली और अल्पकालीन होता है। इस अवस्था में न न्याय होता है और न अन्याय, न उचित होता है न अनुचित। इस अवस्था में जीवन का नियम सिर्फ यह है कि मनुष्य जो कुछ प्राप्त कर सकता है उसे प्राप्त कर ले और उसे जब तक अपने पास रख सकता है। उसे अपने पास रख ले।[36]

संक्षेप में समाज की स्थापना के पूर्व या प्राकृतिक मनुष्य आत्महित की रक्षा के लिये एक दूसरे के ऊपर अधिकार जमाने का प्रयत्न करते रहते थे जिसके फलस्वरूप संघर्ष और विरोधों का होना अनिवार्य था। अतः मनुष्य की प्राकृतिक दशा है मनुष्य का मनुष्य के साथ पारस्परिक संघर्ष।

हॉब्स ने अपने ग्रंथ में प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम का प्रयोग किया है। परंतु उसका प्रयोग पारस्परिक अर्थ में नहीं है। प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक अधिकार से उनका तात्पर्य — ''जीवन रक्षा के लिये मनुष्य को किसी भी कार्य को करने की पूरी स्वतंत्रता है चाहे वह किसी को लूटना, पीटना, या किसी की हत्या करना ही क्यों न हो ? इसी प्रकार 'प्राकृतिक नियम' भी प्राकृतिक दशा में ऐसे आचरण के नियम है जिन्हें बुद्धि ने दिया है एवं जिनसे मनुष्य अपने स्वार्थ की पूर्ति करता है। हॉब्स कहते है—

''प्रकृति की विधि एक उपदेश या सामान्य नियम है जो विवेक के ऊपर आधारित है और जिसके अनुसार मनुष्य जीवन का विनाश करने वाली वस्तुओं का तो त्याग करता है और जीवन की रक्षा करने वाली वस्तुओं को अपनाता है।[37]

दूसरे शब्दों में प्राकृतिक विधियाँ ही वे सिद्धान्त है जिनके आधार पर हॉब्स अपने समाज का निर्माण करता है। वे बुद्धिमता और सामाजिक नैतिकता के सिद्धान्त है वे सभ्यता की विधि तथा नैतिकता के मूल्यों की रचना करते हैं।

चूँकि प्राकृतिक दशा में मनुष्य की स्थिति अत्यंत कष्टपूर्ण, संघर्षशील तथा यातनापूर्ण है इसलिये हॉब्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य ने इनसे बचने तथा अपने हित साधन के लिये समाज तथा सरकार की स्थापना की। हॉब्स का विचार था कि ''मनुष्य विवेक के आधार पर एक दूसरे के साथ मिलकर अवश्य ही रह सकते हैं,

लेकिन विवेक इतना दुर्बल होता है कि वह साधारण मनुष्य के लोभ को अंकुश में नहीं रख सकता।''[38] इसलिये हॉब्स ने अपने सिद्धान्त में बल या शक्ति का समावेश किया। अतः मनुष्य ने यह समझौता किया कि एक संप्रभु सत्ता की सृष्टि की जाये जो उनके हित की रक्षा करे और प्राकृतिक अवस्था के उस पारस्परिक संघर्ष से बचा सकें। और जहाँ भी शक्ति प्रभावकारी है वहाँ मनुष्य के हित में यही ठीक होगा कि वह उस शक्ति के अनुरूप अपने को ढाल लें। लेवियाथन में हॉब्स कहते हैं कि ''तलवार के बिना प्रसंविदाएं केवल शब्द ही शब्द हैं और उनमें यह ताकत नहीं होती कि मनुष्य उनका पालन करने को विवश हो।[39]

चूँकि मनुष्य शान्ति और सुरक्षा के लिये एक दूसरे के साथ सहमति व्यक्त करते हुये एक सामाजिक समझौता करते हैं। इस समझौते के द्वारा सारे लोग आत्मसहायता की भावना छोड़कर अपने को एक प्रभु की अधीनता में कर लेते हैं— ''मैं इस आदमी या आदमियों के संघ को अधिकार देता हूँ और अपने आपको शासित करने में अपने अधिकार को छोड़ता हूँ, इस शर्त पर कि आप भी उसे अपना अधिकार दे दें। और उसके सब कार्यो को इसी रूप में अधिकृत करें।''[40]

ऐसा हो जाने से सम्पूर्ण जन समुदाय एक व्यक्ति (शक्ति, संप्रभुसत्ता) में संयुक्त हो जाता है इसे लैटिन में सिविटास (Civitas) कहते हैं। इसके पहले समाज या राज्य का अस्तित्व नहीं था। यहीं से संप्रभु सत्ता या लेवियाथन का जन्म होता है। इस संप्रभु सता को अपनी शक्ति समर्पित करना, और अपनी सहमति व्यक्त करना है, और इसी सहमति से आज्ञा के पालन तथा कर्त्तव्यपालन की भावना उत्पन्न होती है क्योंकि यही सत्ता व्यक्ति की सुरक्षा का भार अपने ऊपर लेती है। चूँकि मनुष्य अपने को समर्पित करके हानि की अपेक्षा लाभ पाता है इसलिये वह संप्रभु के आदेश का पालन करता है जिससे कानून, न्याय नैतिकता तथा संस्कृति का अस्तित्व सामने आता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि हॉब्स की दृष्टि में संप्रभु सत्ता ही प्रभावकारी समाज और सरकार में लिये आधार रूप में है साथ ही मनुष्य स्वभावत: समाज के लिये इच्छुक नहीं होता बल्कि शिक्षा की यह भी धारणा है कि संप्रभु, न्याय, ईमानदारी आदि सभी व्यवहार आत्महित के संदर्भ में ही सदैव किये जाते हैं। समाज स्वत: में एक कृत्रिम संस्था है क्योंकि मानव समाज को व्यक्तिगत रूप से अपने लाभ और हित में पाता है। समाज से उसे लाभ तथा सेवाएँ प्राप्त होती है और एक नियंत्रण भी बना रहता है। अराजकता की स्थिति समाप्त हो जाती है। शान्ति व्यवस्था बनी रहती है।

हेगल

हेगल के दर्शन का उद्देश्य आधुनिक चिंतन का पूरी तरह से पुनर्निर्माण करना था। हयूम और कांट के विश्लेषण ने जिस चीज को अलग-अलग कर दिया था, हीगेल का दर्शन विवेक की एक बृहद संकल्पना के द्वारा उसे फिर से मिलाना चाहता था। हीगेल के दर्शन का आधार एक नया तर्क था और उसने एक नई बौद्धिक पद्धति **'द्वन्दात्मक पद्धति'** को प्रतिष्ठित किया। हीगेल का कहना था कि यह पद्धति तथ्य के क्षेत्र और मूल्य के क्षेत्र के बीच आवश्यक तार्किक संबंध स्पष्ट कर देने के कारण समाज, सदाचार और धर्म की समस्याओं को समझने के लिये एक अपरिहार्य साधन प्रस्तुत करती है।[41]

हीगेल के अनुसार मानवीय सभ्यता की प्रगति कभी-भी एक सीधी रेखा के समान नहीं होती है विकास की प्रक्रिया में निम्नकोटि की वस्तुएँ उच्चकोटि की वस्तुओं में विकसित होकर पूर्णता प्राप्त करती हैं और उनकी निम्नता नष्ट न होकर उच्चता ग्रहण कर लेती है। हीगेल ने द्वंदात्मक प्रणाली को विचारों के क्षेत्र में लागू करते हुये कहा कि **सर्वप्रथम** किसी वस्तुका एक मौलिक रूप **'वाद'** होता है।

द्वितीय - मौलिक रूप के विपरीत दुखपूर्ण निराशा और आत्मचेतना का होता है '**प्रतिवाद**' । इसमें अन्तरात्मा अर्न्तमुखी हो जाती है और अपनी स्वतः स्फूर्त सृजनशीलता से वंचित हो जाती है। **तीसरे** चरण में मौलिक रूप तथा विपरीत रूप आपस में मिलते हैं तथा इन दोनों के मेल से वस्तु का नया समन्वित रूप '**सामवाद**' (Synthesis) बन जाता है। यह समन्वित रूप कुछ दिनों में पुनः मौलिक रूप ग्रहण कर लेता है और इसी प्रक्रिया की निरन्तर आवृत्ति होती रहती है। इस प्रकार हीगेल ने यह प्रदर्शित किया कि समस्त सत्ता द्वंदात्मक है और द्वंदात्मक प्रणाली ही विचार और सत्ता का आधार है।[42]

हेगल का कहना है कि "be a person & respect other person's" इसका तात्पर्य है कि वह व्यक्ति को नये ढंग से परिभाषित करता है। व्यक्ति और व्यष्टि में अंतर करता है। अर्थात व्यक्ति वह है जो विभिन्न प्रकार के सामाजिक संबंधों से बँधा हुआ है। इन्ही विभिन्न प्रकार के सामाजिक संबंधों को व्यक्तित्व (Personality) कहते हैं और इन सारे संबंधों का विकसित रूप राज्य है। राज्य के साथ व्यक्ति का संबंध विशालतम व्यक्तित्व है। इसलिये व्यक्ति का राज्य से संबंध हुये बिना आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता। हेगल यह भी मानता है कि—

"State is emboded morality" अर्थात् राज्य मूर्त नैतिकता है। वह व्यष्टि के महत्व को अस्वीकार करता है। व्यष्टि का कोई अर्थ नहीं। समष्टि से जुडने पर ही वह सार्थक बनता है और समष्टि से जुड़ने का सबसे विकसित रूप-राज्य से जुड़ना है।

"Philosophy of Right" नामक प्रसिद्ध ग्रंथ में हीगेल ने राज्य संबंधी अवधारणा का उल्लेख किया है। वह रूसों तथा अन्य संविदावादियों की इस धारणा से सहमत नहीं है कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है और इसकी उत्पत्ति किसी सामाजिक

समझौते के परिणाम स्वरूप हुयी है। बल्कि वह अरस्तू की भांति राज्य को एक स्वाभाविक संगठन मानता है और उसका विचार है कि व्यक्ति का उच्चतम विकास राज्य में ही संभव है। हीगेल राज्य को व्यक्तियों के एक कोरे समूह के स्थान पर वास्तविक व्यक्तित्व रखने वाली सत्ता एवं विश्वात्मा की अभिव्यक्ति मानता है। प्रथमत: व्यक्ति स्वयं को परिवार की संस्था में सामाजिक रूप से संगठित पाता है। हेगल के अनुसार मानवीय जीवन का सार स्वतंत्रता है, और स्वतंत्रता की प्राप्ति में परिवार ही प्रथम मानवीय संगठन के रूप में सहायक होता है। यह मनुष्य की ऐन्द्रिक आवश्यकताओं की पूर्तिकर उसे सुरक्षा प्रदान करता है। परिवार जो कि पारस्परिक प्रेम के दृढ़ बंधनों का परिणाम है। एक वाद (Thesis) है । किंतु परिवार की सीमायें सीमित होने के कारण मनुष्य की असीम आवश्यकताओं की पूर्ण पूर्ति न होने पर अगली अवस्था "**नागरिक समाज**" (Civil society) का विकास होता है यह ऐसे स्वाधीन मनुष्यों का समूह होता है जो केवल स्वहित के धागे से बँधे होते हैं। यह प्रतिवाद (Anti-thesis) है। परिवार और नागरिक समाज की पारस्परिक प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप एक सम्वाद (Synthesis) **राज्य** का जन्म होता है जो कि परिवार और समाज दोनों के सर्वोत्तम तत्वों को सुरक्षित रखता है। यही द्वंदात्मक विकास का क्रम है। हेगल Social contract को न मानकर विकासवादी सिद्धान्त को मानते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि द्वन्दात्मक विकास की चरम सीमा राज्य और विकासवादी प्रक्रिया में राज्य से उच्चतर व अधिक पूर्ण कोई वस्तु नहीं है। राज्य परम सत्य और वास्तविकता है इसलिये वही साध्य है और व्यक्ति साधन मात्र है।[43] "राज्य वर्तमान चेतना के रूप में एक दैवी इच्छा है जो संगठित संसार के रूप में अपना उद्घाटन करती है।[44]

राज्य का निर्माण का उस समय होता है जबकि एक सार्वजनिक सत्ता की स्थापना होती है। यह सत्ता श्रेणी की दृष्टि से नागरिक समाज से ऊपर होती है। इसमें व्यक्तिगत हित निहित होते हैं और उसमें इतनी शक्ति होती है कि वह राष्ट्र के ऐतिहासिक मिशन को पूरा कर सके। नैतिक दृष्टि से हीगेल का विचार था कि इसमें व्यक्तिगत आत्मसिद्धि की एक अगली अवस्था प्राप्त होती है। इसका अभिप्राय एक ऐसा समाज होता है। जिसमें आधुनिक मनुष्य स्वतंत्रता की एक नई ऊँचाई प्राप्त करता है और जिसमें मनुष्य के रूप में उसके हितों तथा नागरिक के रूप में उसके हितों के बीच नया सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। दूसरे अर्थ में हेगल राज्य को व्यक्तियों के एक कोरे समूह के स्थान पर वास्तविक व्यक्तित्व रखने वाली सत्ता एव विश्वात्मा की अभिव्यक्ति मानता है।[45]

हेगल का विचार था कि सच्ची नैतिक गरिमा प्राप्त करने के लिये व्यक्तिगत उद्देश्यों को सब से पहले तो नागरिक समाज की संस्थाओं में खपना चाहिये और उसके बाद कुछ अधिक ऊँचे धरातल पर राज्य की संस्थाओं में। मनुष्य की आत्मसिद्धि के लिये जिन-जिन चीजों की जरूरत होती है वे उसकी पूर्ति करती हैं। मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि वह जीवन की विशाल प्रक्रिया में योग दे, वह उन कारणों और प्रयोजनों का एक अंग बने जो निजी आवश्यकताओं और तृप्तियों से बृहत्तर होते हैं। हेगल के तर्क में इस प्रकार यह भाव जरूर था कि ''समाज अथवा संस्कृति मानव व्यवहार की व्याख्या करने के लिये बहुत जरूरी हैं।[46] हीगेल का मूल सिद्धान्त यह था कि व्यक्तिगत हित के लिये यह जरूरी है कि व्यक्ति को समाज में उचित स्थान प्राप्त हो।

हीगेल के अनुसार मानव का सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण स्वतंत्रता है। उसके अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता राज्य का विरोध करने में नहीं, वरन पूर्णरूप से राज्य की

आज्ञा का पालन करने में है, राज्य स्वयं व्यक्ति की आत्मा का ही व्यापक रूप है। हीगेल के राज्य का अपना एक पृथक व्यक्तित्व और निश्चित लक्ष्य है और व्यक्ति का एकमात्र अधिकार तथा कर्त्तव्य राज्य को अपनी लक्ष्य प्राप्ति में सहायता देना अर्थात् प्रत्येक स्थिति में उसकी इच्छानुसार कार्य करना है। हीगेल के अनुसार राज्य परम सत्य और वास्तविकता है, इसलिये वही साध्य है, और व्यक्ति साधन मात्र है। जिस प्रकार भाषा का संबंध विचार से है उसी प्रकार मनुष्य और समाज का संबंध भी अन्योन्याश्रित है। व्यक्ति समाज की शक्ति है और समाज को व्यक्ति की आवश्यकता है। व्यक्ति की पूर्णता समाज के अभाव में संभव नही है। समाज ही वह माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति करता है परंतु यह तभी संभव है जब मनुष्यों का समागम होगा और प्रत्येक एक दूसरे को साधन नहीं साध्य समझें।

मार्क्स

कार्ल मार्क्स को आधुनिक जगत की सर्वाधिक प्रभावशाली और क्रांतिकारी विचारधारा "**साम्यवाद**" के प्रमुख संस्थापकों में से जाना जाता है। मार्क्स से पूर्व भी साम्यवाद का अस्तित्व था परंतु मार्क्स ने साम्यवादी धारणा को एक वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। यही कारण है कि मार्क्स को प्रथम वैज्ञानिक समाजवादी और उनके द्वारा प्रतिपादित दर्शन साम्यवाद को वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) कहा जाता है। **प्रो० सी०ई० एम जोड** के अनुसार मार्क्स प्रथम समाजवादी लेखक हैं जिसके कार्य को वैज्ञानिक कहा जा सकता है। उसने अपने वांछित समाज का चित्रण ही नहीं किया है अपितु वह उन स्थितियों का भी वर्णन करता है जिसके माध्यम से इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

मार्क्स ने अपने साम्यवादी घोषणापत्र (communist manifesto) में कहा है कि "communism in this sense of word is essentially a theory of

method, it seeks to lay down the principles upon which the transition from capitalism to socialism is to be accomplished & its two essential doctrines are the class war & revolution that is the forcible transference of power to the proletriat " अर्थात् साम्यवाद अपने शाब्दिक अर्थ में अवश्य ही एक विधि का सिद्धान्त है। यह उन नियमों को स्थापित करता है जिनके द्वारा पूँजीवाद को समाजवाद में बदला जा सकता है और इसके दो आवश्यक सिद्धान्त है वर्ग संघर्ष तथा क्रान्ति के हिंसात्मक ढंग से सर्वहारा (proletriat) द्वारा सत्ता की प्राप्ति। घोषणापत्र की निम्नलिखित पंक्तियाँ विश्व प्रसिद्ध हैं— प्रत्येक श्रेणी संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष है। साम्यवादी हर स्थान पर वर्तमान सामाजिक तथा राजनैतिक दशाओं के विरुद्ध प्रत्येक क्रांतिकारी आंदोलन का समर्थन करते हैं, तथा अपने विचारों एवं उद्देश्यों को छिपाने से घृणा करते हैं। वे स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि उनका लक्ष्य तभी प्राप्त हो सकता है। जब सामाजिक व्यवस्था को जर्बदस्ती उल्टा जा सके। शासन श्रेणियों को साम्यवादी क्रांति की संभावना पर कांपना चाहिये। मजदूर वर्ग के समाज को कुछ भी नहीं खोना होगा, सिवाय इसके कि उसकी बेड़ियॉ कट जाये। उन्हें सम्पूर्ण संसार को जीतना है। सब देशों के मजदूर संगठित हो जाओ।

मनुष्य और समाज की स्थिति को जानने के लिये कार्ल मार्क्स के द्वंदात्मक भौतिकवाद (Dialectical materialism) की मान्यता को देखना होगा जो कि इतिहास की भौतिकवादी या आर्थिक व्याख्या है। मार्क्स ने हेगल के सिद्धान्त के राष्ट्रों के संघर्ष के स्थान पर वर्गों की संघर्ष धारणा को प्रस्तुत किया। मार्क्स का विश्वास था कि सामाजिक इतिहास की चरम परिणति सर्वहारा वर्ग के उत्थान के रूप में हुयी है और यह वर्ग समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा। द्वंदात्मक भौतिकवाद की मान्यता के अनुसार किसी समाज की उत्पादन की व्यवस्था ही समाज की रचना को निर्धारित

करती है और इसी पर सांस्कृतिक संस्थाओं का निर्माण भी आधारित होता है। यहॉ तक कि मनुष्य की चेतना का निर्धारण भी इसी पर निर्भर है। मार्क्स के अनुसार भौतिक अस्तित्व की दशाओं में परिवर्तन के साथ ही साथ मनुष्य के सामाजिक जीवन और सामाजिक संबंधों में भी परिवर्तन आता है। यहाँ तक कि मनुष्य के विचार, दृष्टिकोण तथा धारणाओं मे, मानवीय चेतना में परिवर्तन आ जाता है।

इसको दूसरे शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—''जब मनुष्य अपने भौतिक उत्पादन और भौतिक सम्पर्क का विकास करते हैं, तब वे अपने वास्तविक जीवन के साथ-साथ अपने चिंतन को और अपने चितंन से सम्बद्ध अन्य बातों को भी बदल देते हैं। जीवन चेतना के द्वारा निर्धारित नहीं होता प्रत्युत् चेतना जीवन के द्वारा निर्धारित होती है।[47] इस निर्धारणवादी सिद्धान्त को समझने के लिये मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को समझना आवश्यक है।

मार्क्स की विचारधारा में वर्ग संघर्ष की धारणा का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। वर्ग की धारणा मार्क्स की दृष्टि से सीमित और आर्थिक दृष्टि से निर्धारणवादी है अर्थात् सम्पत्ति की दृष्टि से वर्ग का निर्धारण होता है। मार्क्स के अनुसार वर्ग व्यक्तियों का वह समूह है जो उत्पादन की किसी विशेष क्रिया से संबंधित है तथा जिनके साधारण हित एक हो। मार्क्स ऐसे दो वर्गो को मानकर चलते हैं जो अपने विरोधी हितों के कारण संघर्षरत रहते हैं। एक वर्ग **पूँजीपति** है जो कि उत्पादन के साधनों, भूमि और पूँजी पर अधिकार रखता है दूसरा वर्ग **सर्वहारा वर्ग** है जो कृषक या श्रमजीवी वर्ग, घोर परिश्रम करने वाला परंतु पूॅजीपति वर्ग पर आश्रित है। पहला वर्ग परिश्रम न करके भी दूसरे वर्ग के शोषण के द्वारा लाभ उठाता है। जबकि दूसरा वर्ग पर्याप्त परिश्रम करने पर भी जीवन की अनिवार्य आवश्यकतायें पूरा करने के साधन नहीं जुटा पाता और निरन्तर शोषित होता रहता है। ऐसी दशा में संघर्ष होना अनिवार्य है। इसी कारण

प्रथम वर्ग को शोषक और द्वितीय वर्ग को शोषित कहा जाता है। पूँजीपति अधिक से अधिक मुनाफा कमाना चाहता है तथा वह मजदूरों को अल्प से अल्पतम मजदूरी देना चाहता है। दूसरी ओर मजदूर अधिक से अधिक मजदूरी लेना चाहता है। इस प्रकार दोनों वर्गो में संघर्ष प्रारंभ हो जाता है। वर्गो के अस्तित्व की पहचान यही विरोध और शासन है। मार्क्स इस पर बल देते हैं क्योंकि संघर्षरत वर्गो का हित एक नहीं हो सकता। इसी विभेद के कारण तथा वर्गहितों के भेद से ही न्याय, नैतिकता और धर्म की धारणाओ में विभेद पाया जाता है अर्थात् आदर्शो में भेद का कारण आर्थिक स्थिति है। सेबाइन ने सामाजिक जीवन और चेतना के पीछे आर्थिक निर्धारण के सिद्धान्त के महत्व को प्रदर्शित करते हुये लिखा है कि ''मार्क्स की दृष्टि में वर्ग सामुदायिक एकता से सम्पन्न होता था, उसी तरह जैसे कि हीगेल की दृष्टि में राष्ट्र। वह इतिहास में एक इकाई के रूप में कार्य करता है और एक इकाई के रूप में ही अपने विशिष्ट विचारों और विश्वासों को प्रकट करता है। आर्थिक तथा सामाजिक पद्धति में उसका अपना एक स्थान होता है। व्यक्ति का महत्व उसकी वर्ग की सदस्यता के कारण होता है। उसके अपने विचार, नैतिक विश्वास, सौन्दर्य संबंधी रूचि, चिन्तन शैली-यह सब उसके वर्ग के विचारो के अनुसार होती है।''[48]

मार्क्स के अनुसार मानवीय क्रियायें धर्म या राष्ट्रीयता से नहीं, वरन् केवल आर्थिक तत्वों से प्रभावित होती है। भौतिक परिवर्तन के साथ मनुष्य अपने चिंतन को तथा चिन्तन से संबद्ध दूसरी बातों को भी बदल देता है इसीलिये मार्क्स ने कहा है कि चेतना जीवन द्वारा निर्धारित होती है न कि जीवन चेतना द्वारा ।[49]

अर्थात् सभी सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक संबंध, सभी धार्मिक और कानूनी पद्धतियाँ, सभी बौद्धिक दृष्टिकोण जो इतिहास के विकास क्रम में जन्म लेते हैं, वे सब जीवन की भौतिक अवस्थाओं से उत्पन्न होते हैं।

परतु मार्क्स के अनुसार जीवन की आर्थिक सत्ता सदैव ही मानव की मूलभूत क्षमताओं के अनुकूल चेतना का निर्धारण नहीं करती। यह स्थिति केवल वर्तमान पूँजीवादी और सर्वहारा वर्ग के बीच द्वंद के कारण उपस्थित है। मार्क्स का मानना है कि न तो पूँजीवाद और नही बुर्जवा वर्ग का आदर्श मानव व्यक्तित्व के अर्थ के लिये पर्याप्त है। वास्तव में व्यक्ति स्वयं को अपने से तथा समाज से पृथक (कटा हुआ) पाता है—क्योंकि समाज अपने आदर्शो के अनुरूप मानदंड निर्धारित करता है। वे समाज के मूल्यों को असंतोषप्रद तथा अहितकर पाते हैं परिणाम स्वरूप इनका प्रतिरोध करते हैं। इस प्रकार व्यक्ति तथा मूल्यो के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाता है फलस्वरूप अपराध, अवज्ञा और विध्वंसात्मक हिंसा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस अलगाव के सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है ''वर्तमान समाज में सबसे प्रमुख समस्या व्यक्ति की है जो एक सुगठित पूँजीवादी समाज और एक केन्द्रीभूत राज्य व्यवस्था के द्वारा लगातार कुचला जा रहा है और जिसके परिणामस्वरूप उसने अपने भीतर अलगाव अथवा विच्छिन्नता (Alıenatıon) की भावना का विकास कर लिया है। आज का मनुष्य समाज अत्यंत व्यापक, जटिल और साथ ही अत्यंत सुगठित हो गया है परंतु उसके गठन का समस्त आधार उत्पादन की कुशाग्रता पर टिका हुआ है। जिसके संदर्भ में व्यक्ति एक उत्पादक बन कर रह गया है और व्यक्तिगत संबंधों का कोई अर्थ नही रह गया है। पूँजीपति जो उत्पादन के समस्त साधनों का स्वामी है परिस्थिति का उपयोग केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये करता है। जहाँ तक साधारण नागरिक का प्रश्न है वह अपना सारा समय अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के कठिन प्रयत्नों में बिता देता है। व्यक्ति अपनी दिनचर्या में इतना व्यस्त रहता है कि उसे अपने भीतर देखने का समय बिल्कुल नहीं मिलता।

व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों के साथ सम्पर्क होता है कारखाने में, दुकान पर, भीड़ में, एक स्थान से दूसरे स्थान तक आते जाते परंतु उसके और समाज के बीच की दूरी

बराबर बढ़ती जा रही है और वह दिन प्रतिदिन के कार्यो से ही अपने को असम्बद्ध नहीं पाता परंतु वह अपने आप को समाज से, राज्य से, उन लोगों से जिनके साथ वह काम करता है और यहाँ तक कि अपने आपसे भी विच्छिन्न पाता है। बर्टेल ओलमैन, मार्क्स के विचारों का विश्लेषण करते हुये लिखते हैं—समाज के इन सभी उपकरणों से विच्छिन्न व्यक्ति एक शरीर मात्र रह जाता है, और उसके वे सब गुण नष्ट हो जाते हैं जिनके आधार पर उसे मानव के रूप में पहचाना जाता था।

मार्क्स के अलगाव सिद्धान्त से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि समाज अपने आदर्शो के अनुरूप मानदण्ड निर्धारित करता है जिससे व्यक्ति तथा मूल्यों के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। वो (मनुष्य) समाज के मूल्यों को असतोषप्रद तथा अहितकर पाते हैं परिणाम स्वरूप वे इसका विरोध करते हैं। मनुष्य अपने को आधारहीन पाता है और ऐसे कार्य करने के लिये बाध्य होता है जो उसे अपराध, अवज्ञा और विनाशकारी हिंसा की ओर ले जाते हैं।

परंतु मार्क्स का यह विश्वास था कि व्यक्ति का यह अलगाव या विच्छिन्नता ज्यादा समय तक चलने वाली नहीं है। समाज के सामने एक सामाजिक परिवर्तन होगा और मनुष्य का वास्तविक रूप सामने आ पायेगा। साम्यवादी व्यवस्था में मार्क्स की आस्था इसी कारण दृढ़ होती गयी कि, उसे यह विश्वास हो गया था कि इस प्रकार की व्यवस्था में व्यक्ति अपने सामाजिक तथा मानवीय जीवन को सम्पूर्ण रूप से एक बार फिर प्राप्त कर सकेगा, और धर्म, कुटुम्ब, राज्य आदि जितने सामाजिक संगठन है उनमें एक मानव के रूप में अपने सम्मानित स्थान पर फिर से प्रतिष्ठित हो सकेगा। दूसरे शब्दों में मार्क्स को विश्वास था कि साम्यवाद के द्वारा व्यक्ति की विच्छिन्नता की समस्या का सही समाधान प्राप्त हो सकेगा।

मार्क्स की मनुष्य के विषय में यह धारणा कि वह अपने को तथा अपनी दुनिया को समझ सकता है। अपनी समझ तथा वातावरण पर अपनी क्रिया के द्वारा मनुष्य पुनः सम्पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। अलगाव का तभी अंत होगा जब मनुष्य मानवीय मूल्यों के आधार पर अपनी वासनाओं और इच्छाओं में समन्वय स्थापित करेगा। मनुष्य की धर्म की चेतना एक भ्रांत चेतना है। यह विच्छिन्न मनुष्य को आराम देने या भुलावा देने का कार्य करती है। एक आदर्श समाज में भुलावा देने वाला धर्म, जो अफीम का काम करता है लुप्त हो जायेगा। एकमात्र ऐसा धर्म रहेगा जो मानव को मानव के रूप में प्रतिष्ठित करेगा। तथा मानव की विच्छिन्नता की समाप्ति के साथ ही साथ यह आदर्श धर्म भी समाप्त हो जायेगा। वही आदर्श समाज होगा।

फासीवाद और फासिस्ट विचारक

फासिज्म एक ऐसी धार्मिक संकल्पना है जिसमें मनुष्य को एक उच्चतर विधि, एक वस्तु परक इच्छा से संबंधित माना जाता है यह विधि और यह इच्छा व्यक्ति विशेष के पार जाती है। और उसे आध्यात्मिक समाज की सचेतन सदस्यता प्रदान करती है। आध्यात्मिक, समाज का निर्माण राष्ट्र नहीं प्रत्युत राज्य करता है।

फासीवाद (Fascism) मुख्यत: प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् इटली में विकसित हुयी वह विचारधारा है जो सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) की धारणा पर आधारित है। जिसकी मान्यता है— ''हमारा जीवन, हमारी क्रियाशीलता, हमारा अस्तित्व राज्य में है। मनुष्य का अपने जीवन पर अधिकार नहीं होता है वह राज्य की धरोहर है उसका उपयोग राज्य के हित में होना चाहिये। मुसोलिनी ने कहा— ''Fascism is based on reality, we want to be definite & real. our programme is action not talk " एक अन्य स्थल पर —'' Fascism is a

great combination of material & moral forces — it aim at governing the nation." अर्थात् फासीवाद भौतिक तथा नैतिक शक्तियों का बृहद संगठन है इसका उद्देश्य राष्ट्र का शासन करना है। फासीवाद के समर्थकों में मुसोलिनी और हिटलर का प्रमुख स्थान है।

फासीवाद के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व समाज के लिये है, अपने लिये नहीं। व्यक्ति समाज में साधन के रूप में है। समाज व्यक्तियों के समूह की अपेक्षा कुछ और है। समाज का अस्तित्व एक पीढ़ी से दूसरी तथा आगे की पीढ़ी तक बना रहता है। जबकि व्यक्ति एक पीढ़ी का ही सदस्य होता है। भाषा, परम्परा और संस्कृति से समाज की पहचान होती है और व्यक्ति तो केवल इनको योगदान देता है। इसी समाज से व्यक्ति के जीवन, गुण और स्वभाव का निर्धारण होता है। फासीवाद व्यक्ति को आध्यात्मिक प्राणी मानता है और इसके अनुसार व्यक्ति आध्यात्मिकता की प्राप्ति समाज द्वारा ही कर सकता है।

मुसोलिनी

प्रथम विश्व युद्ध के इटली की तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ अत्यन्त विकृत हो गयी थी। इस प्रकार की स्थिति में रूस का साम्यवाद अपना प्रभाव फैलाने लगा था। इसी समय इटली में मार्च 1919 में मुसोलिनी के नेतृत्व में एक नयी शक्ति फासीवाद का आविर्भाव हुआ। मुसोलिनी का प्रमुख उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद की स्थापना करना नहीं, अपितु राष्ट्रीय हितों को प्रमुखता देते हुये राष्ट्रीय समाजवाद की स्थापना करना था।

मुसोलिनी का फासीवाद मूलतः एक दलीय अधिनायकत्व वाले शासन व समाज का वह सर्वाधिकारवादी संगठन है जो उग्र राष्ट्रवादी, नस्लवादी, युद्ध प्रिय और

साम्राज्यवादी है जिस पर मैकियावेली, हॉब्स, फिक्टे, ट्रीटश्के, मार्क्स, सोरेल मोस्का, सोपेनहावर, बर्गसां, नीत्शे, जेम्स आदि विचारकों का प्रभाव परिलक्षित होता है। नीत्शे से प्रभावित मुसोलिनी ने संघर्ष की धारणा को अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू करते हुये कहा कि ''अनवरत शांति न तो संभव है न ही उपयोगी। मानव जाति का उत्थान युद्ध से ही संभव है। मानव इतिहास एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर प्रभुत्व पाने के लिये संघर्ष करने का इतिहास है और फासीवाद के द्वारा युद्ध के आधार पर साम्राज्यवाद की स्थापना की जानी चाहिये।

अबौद्धिकतावाद से प्रभावित मुसोलिनी के अनुसार ''हमारी अंधश्रद्धा हमारा राष्ट्र है, हमारी अंधश्रद्धा हमारे राष्ट्र की महानता है। विश्वास ही पर्वतों को हिला सकता है, तर्क नहीं । तर्क एक साधन हो सकता है, किंतु जनता की प्रेरक शक्ति (motive force) नहीं बन सकता।''[50] फासीवाद के दो नारे इसी विश्वास पर आधारित हैं— (1) मुसोलिनी सदैव ठीक होता है तथा (2) मुसोलिनी के आदेशों व आज्ञाओं में हमेशा रहना चाहिये। (our myth is our nation, our myth is the greatness of the nation faith moves mountains, not reason. Reason is tool, but it can never be the motive force of the crowd".

मुसोलिनी के फासीवाद के अनुसार एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य व्यक्ति के सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक तथा कानूनी सभी पहलुओं का नियमन करता है तथा राज्य की इच्छा के समक्ष व्यक्ति को अपनी इच्छाओं का बलिदान करना पड़ता है तथा राज्य की इच्छाओं को अपनी इच्छा के रूप में स्वीकार करके ही व्यक्ति अपनी सभ्यता और संस्कृति का विकास कर सकता है।

मनुष्य केवल आर्थिक सुविधाओं पर जीने वाला प्राणी नहीं है। विश्वकोष में दिये गये निबन्ध में मुसोलिनी ने इसी तरह की विचार धारा को प्रकट किया है—

''इतिहास के आर्थिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य केवल कठपुतली की तरह है। वे संयोग की लहरों द्वारा इधर-उधर ले जाये जाते हैं और वास्तविक संचालिका शक्तियाँ उनके नियन्त्रण से बिल्कुल बाहर रहती है।'' 51 अपरिवर्तनशील वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त इतिहास के आर्थिक सिद्धान्त का ही परिणाम है। यदि हम इतिहास के आर्थिक सिद्धान्त को अस्वीकार कर देते हैं तो हम वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को भी अस्वीकार कर देते हैं। फासीवाद यह भी अस्वीकार करता है कि वर्ग संघर्ष समाज के परिवर्तन में एक प्रबल शक्ति हो सकता है। मुसोलिनी ने वर्ग संघर्ष का विरोध किया है तथा इसे अनावश्यक बताते हुये इसके स्थान पर आपसी सहयोग पर अधिक बल दिया है क्योंकि समाज के सभी वर्ग यदि परस्पर सहयोग करते हैं तो इससे सम्पूर्ण राष्ट्र की भलाई होगी और राष्ट्र की भलाई में ही समाज के सभी वर्गो का हित निहित है।

मुसोलिनी समाजवादी धारणा को भौतिकवादी नहीं मानता है। उसके अनुसार समाज की केवल आर्थिक उन्नति से ही मनुष्य का सर्वमुखी विकास नहीं हो सकेगा) मुसोलिनी का ही कथन है—

Economic well being would reduce man to the level of animals, caring for only one thing to be fed & well fed and would thus degrade humanity to a purely physical existence "

अर्थात् ''आर्थिक समृद्धि मनुष्य को उन पशुओं के समान बना देगी, जिन्हें केवल अपना पेट अच्छी तरह भरने की चिंता रहती है और इस प्रकार मनुष्य जाति का अस्तित्व केवल भौतिक रह जायेगा।

फासीवाद में कहीं-कहीं व्यक्ति को इतना अधिक महत्व दिया है कि, लगता है

कि व्यक्ति ही विचार का मुख्य केन्द्र है और कहीं व्यक्ति को एकदम नगण्य माना गया है। मुसोलिनी ने लिखा है कि "हमें व्यक्ति के पास एक बार फिर वापस जाना चाहिये। हम उस हर बात के समर्थक हैं जो व्यक्ति को ऊपर उठाती है, उसे महान् बनाती है उसे अधिक आराम, अधिक स्वाधीनता और व्यापक जीवन देती है। हम उस प्रत्येक बात के विरुद्ध युद्ध कर रहे हैं जो व्यक्ति पर प्रतिबंध लगाती है। और उसे हानि पहुँचाती है।"[52]

सामान्य जनता के विषय में मुसोलिनी का कथन है कि "जनता की न तो राजनीति में दिलचस्पी होती है और न उसमें अपना शासन स्वयं करने की क्षमता ही होती है। मुसोलिनी ने जनता को भेड़ो का खेड़ बताया जिसे नेता इच्छानुसार किसी भी दिशा में हांक कर ले जा सकता है।"[53]

एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं कि "जनता उस कुतिया के समान है जो मालिक से पिटकर या डांट खा कर भी उसके पैरों के तलवे चाटती है। फासीवादी विचारधारा के अनुसार एक औसत व्यक्ति न तो उद्योग पर नियन्त्रण चाहता है और न स्वशासन चाहता है। वह तो अच्छी आजीविका चाहता है और एक ऐसा नेता चाहता है जिसके पीछे वह आँख मूँद कर चल सके।"

फासीवादी राज्य में न तो विचार की स्वतंत्रता है और न ही भाषण की। "समाचार पत्र, चित्रपट, कला, विज्ञान, साहित्य, दर्शन और शिक्षा संस्थान सभी पर राज्य का नियंत्रण होता है। मुसोलिनी का कथन है कि "फासीवादी राज्य में व्यर्थ और हानिकारक स्वतंत्रता को कम कर दिया गया है और केवल वे ही स्वतंत्रताये रखी गयी है जिनका रखना आवश्यक समझा गया है। स्वतंत्रता के क्षेत्र में व्यक्ति कभी भी निर्णायक नहीं हो सकता, केवल राज्य ही इसका निर्णय कर सकता है।

हिटलर

जिस समय इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासीवाद की स्थापना हुई उसी समय जर्मनी में 1927 में राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी के नेता हिटलर के द्वारा फासीवाद की स्थापना की गयी।

हिटलर ने मेन कैम्फ के पहले भाग के अंत में अपने दल के संगठन के बारे में जो योजना प्रस्तुत की, वह समाजवादियों और राष्ट्रवादियों को मिलाने पर निर्भर थी।[54] हिटलर के अनुसार नये आंदोलन का उच्चतम उद्देश्य जनता का राष्ट्रीयकरण करना और आत्मरक्षा के राष्ट्रीय भाव को पुनः प्राप्त करना था। यह भी निश्चित है कि हिटलर ने अपनी विचारधारा को इतनी चतुराई से विस्तृत किया जिससे कि मार्क्सवादी विचारधारा में डूबे मजदूर भी उसके प्रभाव में आ गये। हिटलर की विचार धारा में राष्ट्र की वही कल्पनावादी धारणा थी जो कि मार्क्स की विचारधारा में वर्ग विहीन समाज की होती है। हिटलर ने वर्ग संघर्ष के स्थान पर यह विचार प्रस्तुत किया कि श्रमिक राष्ट्र यहूदी लोकतंत्रात्मक धनिक तंत्र की शक्तियों से लड़ रहे है।

वस्तुतः मुसोलिनी और फासिस्ट कल्पना हिटलर के लिए आदर्श के रूप में थी ही। हिटलर ने अपनी आत्मकथा में जीवन दृष्टिकोण का अर्थ एक कल्पना के रूप में ही किया था। वह कभी समझौता नहीं करता तथा अपने अनुयायियों से पूर्ण और निरपेक्ष आज्ञापालन की माँग करता है। वह धर्म की भाँति असहिष्णु तथा अपने विरोधियों से प्रत्येक साधन के द्वारा लड़ता है। वह अपने विरोधी के दृष्टिकोण को न स्वीकार न करने वाला, रुढ़िवादी और अंधा होता है। वह एक आध्यात्मिक आधार प्रदान करता है। इस आधार के बिना मनुष्यों में उतनी कठोरता और चालाकी नहीं आ सकती, जो जीवन संघर्ष में विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक होती है। राजनीति

जीवन दृष्टिकोणों के बीच मरणांतक युद्ध है।55 ''जीवन संबंधी दो दृष्टिकोणों में सघर्ष के दौरान निर्मम शक्ति का हथियार, निर्दयता और निरन्तर प्रयुक्त किये जाने पर उस पक्ष की विजय करा देता है जिसका वह साथ देता है।56

हिटलर के अनुसार राज्य एक साध्य नहीं बल्कि साधन है। यदि उसकी नीति जनता के लिए हितकर नहीं है तो उसका विरोध किया जाना चाहिये। राष्ट्रीय दर्शन मे सबसे अधिक निश्चित सिद्धान्त यह था कि राज्य जातीय लोक संस्कृति का सृष्टा और वाहक है तथा वह नैतिकता और राजनीति के मानकों को निर्धारित करता है। हिटलर के शब्दों में — ''कर्त्तव्य की चेतना, कर्त्तव्य का पालन और आज्ञापालन अपने आप मे उसी प्रकार साध्य नहीं है जिस प्रकार राज्य अपने आप में साध्य नहीं है। वे इस ससार में इसलिये है जिससे कि मनुष्यों का एक समुदाय जो मानसिक और शारीरिक रूप से एक ही नस्ल का है, इस संसार में रह सके।''57

राष्ट्रीय समाजवाद के सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तियों में जैसी योग्यता और क्षमता होती है, उसको ध्यान में रखकर उनका एक पद सोपान बन जाता है और जिन व्यक्तियों में अधिक योग्यता होती है उन्हें ऊँचा स्थान मिलता है और जिन व्यक्तियों में कम योग्यता होती है उन व्यक्तियों को शक्ति और विशेषाधिकार भी उनके दर्जे के अनुसार ही मिलते हैं। बीच में नेता होता है। वह अपने अनुयायियों से घिरा होता है नेता इनका नेतृत्व करता है। मुसोलिनी और हिटलर दोनों में से किसी ने भी जनता के प्रति अपनी घृणा को कभी नहीं छिपाया। हिटलर का कहना था कि ''प्रत्येक राष्ट्र में अधिकांश व्यक्ति ऐसे होते हैं जो न वीर होते हैं और न बुद्धिमान। वे न अच्छे होते हैं न बुरे, बल्कि साधारण होते हैं। वे सामाजिक संघर्ष में निष्क्रिय होते हैं लेकिन विजेता के पीछे चल देते हैं। वे मौलिकता से डरते हैं और उच्चता से घृणा करते हैं। उनकी सबसे बड़ी इच्छा अपने नेताओं का पता लगाने की होती है। वे बौद्धिक अथवा

वैज्ञानिक धारणाओं से अप्रभावित रहते हैं। इसका कारण यह है कि वे इन्हें समझते ही नहीं।''58—''अधिकांश लोग प्रकृति के एक अंशमात्र है। वे यह चाहते हैं कि सशक्त लोगों की विजय हो तथा दुर्बल लोगों का विनाश अथवा बिना शर्त समर्पण हो।" 59

हिटलर के अनुसार मानव प्रकृति में कही गहराई में वह निश्चित भीड़ वृत्ति पायी जाती है जो रक्त की एकता में निहित होती है और जो संकट काल में राष्ट्र की विनाश से रक्षा करती है। हिटलर और मुसोलिनी दोनों का विश्वास है कि ''सभी बड़े - बड़े आंदोलन जनता के आंदोलन होते हैं। वे मानव आवेशों और आध्यात्मिक संवेदनों के भयंकर विस्फोट होते है। वे या तो पीड़ा की देवी द्वारा या जनता के बीच फेकी गयी शब्द की मशाल द्वारा उद्वेलित होते हैं।'' 60 हिटलर ने अपनी आत्मकथा में नेता का वर्णन करते हुये लिखा है कि नेता न तो विद्वान होता है और न सिद्धान्तवादी। वह एक व्यवहारिक, मनोवैज्ञानिक और संगठनकर्ता होता हैं। जिसकी सफलता का रहस्य बुद्धिमत्तापूर्ण मनोविज्ञान तथा जनता की चिंतन प्रकिया को समझने की योग्यता में निहित है। नेता जनता से उसी तरह काम लेता है जैसे कि कलाकार मिट्टी से।

राष्ट्रीय समाजवादी विचारधारा में जातीय सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। हिटलर ने मीन कैम्फ में कहा था कि द्वितीय जर्मन साम्राज्य के पतन का कारण यह था कि उसने जाति के महत्व को नहीं समझा। मीन कैम्फ में जातीय सिद्धान्त का निरूपण है वो इस प्रकार है— प्रथम समस्त सामाजिक प्रगति संघर्ष के द्वारा होती है। इस संघर्ष में योग्यतम व्यक्ति ही जीवित रहते हैं। दुर्बल व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं। यह संघर्ष जाति के अर्न्तगत होता है इसके परिणामस्वरूप स्वाभाविक नेताओं का आविर्भाव होता है। दो जातियों के सम्मिश्रण से उच्चतर जाति का पतन होने लगता है। शक्ति और अधिकार केवल उन लोगों के हाथों में रहे जो शुद्ध जर्मन जाति के थे।

संक्षेप में इसका तात्पर्य जैसा कि हिटलर ने मीन कैम्फ में कहा था, यह था कि एक तो स्वामी जाति हो तथा अन्य सहायक जातियाँ उसकी सेवा करती हो। चूकि जाति का सिद्धान्त काल्पनिक था, अतः राष्ट्रीय समाजवादी सरकार जिस समुदाय को चाहती, जातीय आधार पर उसका दमन और शोषण कर सकती थी। तार्किक दृष्टि से राष्ट्रीय समाजवाद के नेता जातीय सिद्धान्त के आधार पर अपनी प्रभुता को विवेक का आधार देना चाहते थे। हिटलर ने जाति को अत्यंत महत्व दिया जो कि उसके कथन से स्पष्ट होता है—

''हमें बच्चे की प्राइमर से लेकर अन्तिम समाचर पत्र तक, प्रत्येक थियेटर और प्रत्येक चलचित्र पर नियंत्रण रखना है। स्कूल में पढ़ने वाले प्रत्येक लड़के और लड़की को रक्त की शुद्धता के स्वरूप और उसकी आवश्कता का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। इस ज्ञान को प्राप्त किये बिना उसे स्कूल छोड़ने की अनुमति नहीं मिलनी चाहिये।[61]

अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य यह हो गया कि प्रत्येक तरुण के दिमाग में जाति की भावना ठूसठूस कर भर ही जाये।

इस तरह से हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि फासीवाद का उद्देश्य व्यक्तिगत समानता, स्वतंत्रता और अधिकारों के स्थान पर उत्तरदायित्व, अनुशासन, व श्रेणीबद्ध संगठन पर बल देना है। फासीवाद को अवसरवादी प्रवृत्ति का पोषक माना जाता है। उसका प्रधान लक्ष्य रहा है — काम निकालना, किये हुये कार्यो का औचित्य सिद्ध करना और आने वाली परिस्थितियों का सामना करना और इसके लिये वह अपने विचारों में समय-समय पर परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन करता है। फासीवाद भले ही किसी भी मूल्य को स्वीकार नहीं करता परन्तु राष्ट्रीय एकता, समृद्धि और राष्ट्र की शक्ति वृद्धि को अत्यंत महत्व प्रदान करता है।

समकालीन भारतीय दार्शनिकों में जो कि समाजवाद के समर्थक है, गाँधी और लोहिया का स्थान अग्रगण्य है।

महात्मा गाँधी

एक आध्यात्मिक संत थे जिन्होंने जनसेवा या लोकसेवा को ही अपना लक्ष्य बनाकर सार्वजनिक जीवन में पदार्पण किया। गाँधी जी स्वीकार करते थे कि सभी धर्म यथार्थ है, सत्य है तथा किसी को यह नही सोचना चाहिये कि उसी का धर्म ठीक है। उनके अनुसार धर्मो के प्रति ऐसी उदार अभिवृत्ति होनी चाहिये कि हम यह समझे कि हर धर्म अपने धर्मावलम्बी को एक श्रेष्ठतर मानव बनाने की क्षमता रखता है। तीनों कालों में सिर्फ ईश्वर ही एक रूप में अपना अस्तित्व रखता है। जिसने इस सत्य के प्रति प्रेम और निष्ठा द्वारा इसे अपने हृदय में सदा के लिये स्थापित करने में सफलता पा ली है। उसे मैं हजार बार नमस्कार करता हूँ।[62]

यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि सांप, चीते आदि हमारे विषैले, नीच, गंदे विचारों के ईश्वर द्वारा बनाये हुये जवाब हैं। मेरा विश्वास है कि सभी जीव एक से हैं। विचार निश्चित रूप ग्रहण करते हैं। चीते और साँपों का संबंध हमसे है। वे हमारे लिये चेतावनी है कि हम बुरे, दुष्ट विकार युक्त विचार न रखें। यदि मैं इस धरती को जहरीले जानवरों और सरीसृपों से मुक्त चाहता हूँ तो मुझे अपने अंदर से सारे विषैले विचार निकाल देने चाहिये।[63]

गॉधी जी के अनुसार मनुष्य में, भले ही वह कितना ही बुरा और पतित क्यों न हों, ऊँचाई के उस चरम शिखर तक पहुँचने की क्षमता है, जिस तक किसी भी जाति या वर्ण का कोई भी व्यक्ति पहुँच सकता है। अपने जीवन में मै हर घड़ी, विचार, वाणी और कर्म में आवश्यक पवित्रता पैदा करने की कोशिश कर रहा हूँ। जो स्थिति

है उसमें मैं मानता हूँ कि मैं बहुत से विकारों के वशीभूत हो जाता हूँ, जिन्हें मैं दुष्कृत्य मानता हूँ। उन्हें देखकर या उनके बारे में सुनकर मेरे दिल में क्रोध भभक उठता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य मनोविकारों को जीतकर ही नीरोग बन सकता है यदि वह इस प्रयत्न में असफल होता है तो इसमें घबराये नही बल्कि अपने प्रयत्नों को जारी रखे। अपने फल की सिद्धि न होने पर वह हताश न हो, बल्कि अपनी निष्ठा को बनाये रखकर प्रयास करता रहे।

मनुष्य बुद्धि से नहीं हृदय से संचालित होता है। हृदय उस निष्कर्ष को स्वीकार कर लेता है, जिसके लिये बाद में बुद्धि तर्क निकालती है। पहले विश्वास, फिर तर्क। मनुष्य जो कुछ करता है, करना चाहता है उसके समर्थन में प्रमाण ढूंढ निकालता है।[64]

गाँधी जी स्वयं को व्यवहारिक आदर्शवादी मानते थे क्योंकि उनके सिद्धान्त एक निश्चित आदर्श के अनुरूप सृजित हुये हैं तथा इन आदर्शो और सिद्धान्तों को वे सदैव अपने व्यवहारिक जीवन में उतारते रहे हैं। उन्होंने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिये सदैव कुछ विशेष सिद्धान्त और तकनीक अपनायी जो उन्होंने कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी नहीं छोड़ी। ये सिद्धान्त थे— सत्य, अहिंसा, सब धर्मों का सम्मान, सामाजिक समानता, शोषण, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, पूँजीवाद का विरोध। उन्होंने सत्याग्रह, असहयोग, सविनय अवज्ञा, हड़ताल और उपवास इत्यादि साधनों को भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति तथा अन्य समस्याओं को हल करने के लिये अपनाया। वे कहते थे कि अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अच्छे साधन भी अपनाने आवश्यक हैं। वे इस बात से कदापि सहमत नहीं थे कि अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये कोई भी साधन अपनाये जा सकते है। चाहे वे साधन हिंसात्मक भी हो। उनके अनुसार नैतिकतावादी जीवन यापन से विश्व में दुख, संकट तथा समस्या जैसी कोई चीज रह ही नहीं सकती है। व्यक्ति को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक कार्यो को नैतिक बल के साथ करना चाहिये तथा अपनी विवेकशीलता का परिचय देना चाहिये।

राज्य और समाज के व्यवहारिक स्वरूप पर बल देते हुये गॉधी जी समाज तथा राज्य को सुधार कर एवं परिष्कृत करके एक स्वस्थ एवं सुदृढ़ ढांचा तैयार करना चाहते थे। गाँधी जी के अनुसार समाज के निर्माण का आधार नैतिक है। जब मनुष्य अपनी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों से ऊपर उठता है तभी समाज का आर्विभाव होता है। उनका कहना था कि ''यदि बहुत साल तक सेवा करके मैं समाज के लिये एकदम बेकार हो जाऊँ तो समाज पर भार बनने की अपेक्षा मैं चाहूँगा कि मुझे मार दिया जाये, क्योंकि मैं उचित रूप में विश्वास करता हूँ कि अपने को मरवाकर और इस प्रकार अपने प्रिय समाज के सर से बोझा हटाकर मैं उसे ही लाभ ही पहुँचाऊंगा। यह अलग बात है कि सभी उपयोगी मनुष्यो और पशुओं की देखभाल करना समाज का कर्त्तव्य है।[65]

गाँधी जी के अनुसार स्वस्थ सामाजिक जीवन सहयोग के प्रति निष्ठा तथा श्रम विभाजन पर ही टिक सकता है। समाज में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि हर व्यक्ति समाज के हित में अपनी शक्ति के अनुरूप योगदान करता रहे। गाँधी जी हिन्दू समाज में प्रचलित जाति भेद से अत्यंत क्षुब्ध थे। उनके अनुसार वर्ण जन्म के आधार पर जाति को नहीं स्वीकार किया जा सकता, कोई व्यक्ति एक वर्ण में जन्म लेने से न तो श्रेष्ठ होता है और न ही दूसरे वर्ण में जन्म लेने से निम्न। गाँधी जी के अनुसार वर्ण का निर्धारण जन्म से नहीं अपितु कर्म या व्यवसाय से होता है। गाँधी जी का विश्वास था कि यदि वर्ण व्यवस्था को सही रूप में उसके निहितार्थ के साथ समझा जाये तो इस आधार पर अभी भी एक स्वस्थ और सशक्त समाज की स्थापना की जा सकती है।

गाँधी जी का कहना था कि भारत जैसे निर्धन देश में शारीरिक शिक्षा से दोहरा प्रयोजन सिद्ध होगा। एक तो उससे बच्चों की शिक्षा का खर्च निकलेगा, दूसरे वे ऐसा धंधा करना सीख जायेंगे जिसका वे चाहे तो आगे के जीवन में अपनी आजीविका के

लिये सहारा ले सकते हैं। ऐसी प्रणाली से हमारे बालक अवश्य स्वालबी बनेंगे। हम हाथ पैर की मेहनत से घृणा करना सीखें, इससे हमारा राष्ट्र जितना गिरेगा उतना और किसी चीज से नहीं।[66] प्रत्येक भारतवासी का कर्त्तव्य है कि वह इस बात से ही संतुष्ट न हों जाय कि अपने और अपने परिवार के खाने पहनने के लिये काफी कमा लिया तो सब कुछ कर लिया। उसे अपने समाज की भलाई के लिये भी दिल खोलकर धन देने के लिये तैयार रहना चाहिये। भारत हमारे नगरों मे नहीं बसा है वह तो अपने गाँवों में रहता है और नगर गाँवों के सहारे जीते है। वे अपने धन को दूसरे देशों से नहीं लाते हैं। पिछले दौ सौ वर्षो में इस देश का जो खून चूसा गया है उसमे इन नगरों ने विदेशी बेड़ियों के साथ सहयोग किया है भारत दिनों-दिन गरीब होता जा रहा है।

गांधी जी का कहना है कि "मैं विकास चाहता हूँ, आत्मनिर्णय का अधिकार चाहता हूॅ, मैं स्वतंत्रता चाहता हूँ लेकिन ये सब चीजें आत्मा की खातिर चाहता हूँ। हमें अपनी बौद्धिक और अन्य सब शक्तियों का उपयोग आत्मा के विकास के लिये करना है। जो अर्थव्यवस्था व्यक्ति या राष्ट्र के नैतिक हित को चोट पहुँचाती है वह अनैतिक है और इसलिये पापपूर्ण है। इस प्रकार जो अर्थव्यवस्था एक देश को दूसरे देश को लूटने की छूट देती है वह अनैतिक है।[67]

प्रत्येक मनुष्य को जीने का अधिकार है और इसलिये उसे पेट भरने के लिये भोजन और जहाँ जरूरी हो वहॉ तन ढकने के लिये कपड़ा और रहने के लिये मकान पाने का हक है। लेकिन इस मामूली काम के लिये हमें अर्थशास्त्रियों और उनके नियमों की जरूरत नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के पास इतनी सम्पत्ति होनी चाहिये कि वह अपनी सारी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, अधिक नहीं। उदा० यदि किसी का हाजमा कमजोर है तो उसे रोटी के लिये केवल चार औंस आटे की जरूरत है तो दूसरे को केवल एक पौंड की। दोनों के पास अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये

सुविधा होनी चाहिये। इस आदर्श को चरितार्थ करने के लिये सम्पूर्ण समाज व्यवस्था की पुर्नरचना होना आवश्यक है। किसी भी एक व्यक्ति के लिये, जीवन के इस मार्ग को बिना दूसरों के वैसा करने के लिये प्रतीक्षा किये बिना अगीकार करना पूर्णतया संभव है। और यदि एक अकेला व्यक्ति आचरण के कुछ नियमों का पालन कर सकता है तो इससे यह फल निकलता है कि व्यक्तियों का समूह भी ऐसा कर सकता है। यदि लोगों को ऐसा लगता है कि किसी उद्देश्य की पूर्ण सिद्धि नहीं हो सकती तो वे आमतौर पर उस काम को शुरू करने में हिचकते हैं। यह मन: स्थिति वास्तव में प्रगति के मार्ग में बाधक होती है।

गाँधी जी का मत था कि श्रम पूॅजी से श्रेष्ठतर है, यह श्रम करने वाले व्यक्ति को एक गरिमा प्रदान करता है। पूॅजी स्वार्थ का प्रतीक और श्रम कर्म का प्रतीक है। वे श्रमिक तथा पूँजीपति के बीच संघर्ष का समर्थन नहीं करते थे। उनकी धारणा थी कि सामाजिक व्यवस्था का आधार घृणा, संघर्ष, हिंसा नहीं अपितु प्रेम तथा विश्वास है। अहिंसा के द्वारा समान विभाजन किया जा सकता है। इस ओर उस व्यक्ति के लिये जिसके जीवन का आदर्श है—पहला कदम यह है कि वह अपने निजी जीवन में आवश्यक परिवर्तन करें। भारत की गरीबी को ध्यान में रखकर वह अपनी इच्छाओं को कम से कम कर ले। अपनी कमाई को बेईमानी से मुक्त कर ले। सट्टे की इच्छा को त्याग दे। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह संयम से काम लेगा। जब वह अपनी निजी जीवन में यह सब कर चुकेगा जो संभव है तभी वह अपने साथियों और पड़ोसियों को अपने आदर्श का उपदेश दे सकने वाली स्थिति में होगा।[68] वास्तव में आर्थिक समानता के सिद्धान्त के अनुसार धनिक अपनी सम्पत्ति का स्वामी तो होगा पर उसमें से वह वैयक्तिक आवश्यकताओं के लिये जितना उचित है, उतना ही खर्च करेगा। शेष का उपयोग समाज के हित के लिये करने हेतु वह ट्रस्टी बन जायेगा। इससे ट्रस्टी में ईमानदारी होगी। ज्योंही मनुष्य अपने को समाज का सेवक मानेगा, उसके लिये

कमायेगा, उसके हित में खर्च करेगा, तब उसकी कमाई में शुद्धता आयेगी और उसके साहस में अहिंसा होगी। इसके अतिरिक्त यदि लोगों के मस्तिष्क जीवन की इस पद्धति की ओर आकर्षित होंगे तो समाज में अहिसात्मक क्रान्ति होगी और वह भी बिना किसी कटुता के। दूसरे शब्दों में गॉधी जी के विचारों का सार यह है कि "प्रत्येक व्यक्ति के लिये समाज में स्वतंत्रता होगी। और समाज में अधिक से अधिक समानता होगी। प्रत्येक व्यक्ति को विकास के अधिक से अधिक अवसर प्राप्त होंगे। मनुष्य इस समाज का केन्द्र होगा। वस्तुतः मनुष्य का निजी हित इस समाज का आधार नही होगा। ऐसे समाज में जीवन सामूहिक होगा ताकि साहित्य, कला और विज्ञान की उन्नति हो सके, मनुष्य के व्यक्तित्व का अधिक से अधिक विकास हो सके।"

डा० राममनोहर लोहिया

डा० राममनोहर लोहिया का दृष्टिकोण क्रान्तिकारी था और उनकी क्राति महात्मा गाँधी द्वारा शोषित साधनों के माध्यम से ही अग्रोन्मुखी हुयी थी।

लोहिया मानते थे कि मातृभाषा को छोड़कर ज्ञान व अभिव्यक्ति का दूसरा सशक्त माध्यम कोई नहीं हो सकता है यही कारण था कि कलकत्ता में अध्ययनरत रहते हुये भी वह हिन्दी में बातचीत करना अधिक पसन्द करते थे। अधकचरी भाषा के फैशनपरस्त लोगों को वे खुब आड़े हाथों लेते थे।

लोहिया मनुष्य की प्रकृति में स्वतंत्रता पर अधिक जोर देते थे। उनकी बौद्धिक स्वतंत्रता संबंधी-धारणा डा० ताराचन्द दीक्षित के अनुसार "ग्रीन के उस विचार से भी पुष्ट होती है जिसमें उसने माना है कि मानव चेतना में स्वतंत्रता अन्तर्निहित रहती है और स्वतंत्रता में अधिकार अन्तर्निहित रहते हैं, जिसे राज्य की आवश्यकता पड़ती है।"[69]

"Thus the state does not create rights, but it gives fuller reality to right's already existing "

लोहिया का मत था कि मानव को अत्याचारी और अन्यायी कानूनों की शान्तिमय और अहिंसात्मक अवज्ञा का अधिकार होना चाहिये। व्यक्ति को प्राणदंड नहीं, आत्महत्या का भी अधिकार मिलना चाहिये।[70]

स्त्री के प्रति उनके मन में विशेष सम्मान था। उनकी यह निश्चित धारणा रही कि स्त्री के स्वतंत्र हुये बिना पुरुष स्वतंत्र नहीं हो सकता। स्त्री पर लगे हुये बंधन समाज के अनेक अन्याय के कारण हैं। उन्होंने नारी के सक्रिय सहयोग के बिना समाजवादी आंदोलन को वधू विहीन विवाह की संज्ञा दी।[71]

"A socialist movement without the active participation of women is like a wedding without the bride "

दूसरे शब्दों में लोहिया नर-नारी के बीच ''एक पत्नी एक पति'' को आदर्श मानते थे और दोनों में समता का धरातल जरूरी समझते थे।

लोहिया जन-जन के शुभ चिंतक थे। उनका दृष्टिकोण भेदभाव रहित और जन-जन की पीड़ा के प्रति अत्यंत उदार था। उनका कहना था कि हमारे यहाँ स्वस्थ लोकतंत्र का विकास नहीं हो पाता क्योंकि हमारे राष्ट्रीय चरित्र लोकतंत्र की उपेक्षा की परवाह न करके अहम भूमिका पर जरूरत से ज्यादा ध्यान देते हैं फलतः निकट भविष्य में अथवा आगे चलकर परिणाम जनता को ही भोगना पड़ता है। और नेताओं का यह अभिशाप जनता को तब तक भोगना होगा जब तक वह न केवल शिक्षित हो जायेगी अपितु जनतंत्र की अंतरंगता को आत्मसात् न कर लेगी। लोहिया हिंसा से घृणा और अन्याय का अहिंसात्मक प्रतिकार सीखने पर अधिक जोर देते थे। उनके अनुसार

समता नि:शस्त्रीकरण का आधार हो सकती है। सामूहिक सुरक्षा का अभाव ही शस्त्रीकरण की वृद्धि का कारण है।

लोहिया ने अमीरी और गरीबी को सभी विषमताओं की जड माना है। वे चाहते थे कि सर्वप्रथम गरीबी तथा अमीरी के फर्क से जो अन्याय निकलते हैं उनको लेकर उन्होंने अपने आर्थिक दर्शन के निम्नलिखित आधार बतलाये—(1) वर्ग-उन्मूलन, आय-नीति, मूल्य-नीति, अन्न-सेना एव भू-सेना, भूमि का पुर्नवितरण, खर्च की सीमा, समाजीकरण, आर्थिक विकेन्द्रीकरण।[72]

लोहिया की दृष्टि में सर्वहारा वर्ग की क्रांति विषयक मार्क्स की अवधारणाऍ अपूर्ण थी। उन्होंने वर्ग संघर्ष के साथ राष्ट्रीय संघर्ष को अनिवार्य माना था। उनकी दृष्टि में आन्तरिक तथा बाह्य संघर्ष के दोहरे दबाव मे सभ्यता पतनोन्मुख होती है। वे नहीं मानते थे कि पूँजीवाद ने उत्पादन शक्ति तथा उत्पादन संबंध के मध्य संघर्ष तेज किया है अपितु उनके अनुसार क्रांति की प्रक्रिया ने विश्व को दो भागों में बाँट दिया है। विश्व में गरीब देशों की स्थिति के पीछे यही मूल सत्य है।

लोहिया, गाँधी जी के इस विचार से कि मानव की चेतना, विचार, परिवर्तित होने से समाज बदल जायेगा। और मार्क्स के इस विचार कि भौतिक परिस्थितियों के परिवर्तित होने से व्यक्ति के विचार भी बदल जाते हैं; को अपूर्ण मानते हुये आवश्यक समझते हैं कि गाँधी का **प्रवृत्ति लक्ष्य** (धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक लक्ष्य) और मार्क्स का **आर्थिक लक्ष्य** दोनों ही मिलकर शिवकारी भूमिका प्रस्तुत कर सकते है। लोहिया की मान्यता थी कि ''हिन्दुस्तान में समाजवाद को अब आध्यात्मिक और भौतिक दोनों का पुट देकर खड़ा किया जाये। यह नहीं कि फिर खिचड़ी पकाई जाये, बल्कि ऐसे आधार पर खड़ा किया जाये कि जिससे उसे मनुष्य के इन दोनों तथ्यों की

सहायता मिल सके।[73] अर्थात् विषय और प्रवृत्ति दोनो को परस्पर अवलम्बित किया जा सके। इस सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि लोहिया के पास अपनी विचार दृष्टि थी और समस्याओं के समाधान का अपना रास्ता था।

स्टॉक होम मे विश्व सरकार के समर्थकों के सम्मेलन में लोहिया ने **चौखंभा राज** की कल्पना को प्रस्तुत करते हुये कहा था "सारी दुनिया में एक पाँच खंभों पर आधारित व्यवस्था का निर्माण होना चाहिये। स्थानीय कारोबार में ग्राम व नगर की आजादी हो। अपने इलाके की व्यवस्था में जिले के अधिकार हो, प्रांतीय क्षेत्र की व्यवस्था प्रांत के हाथ में रहे। कुछ मुख्य प्रश्न केन्द्र की सरकार को सौंपे जायें और विश्व सरकार अर्न्तराष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा तथा विश्व के पुनर्निर्माण के सीमित कार्य करें। .. . ऐसी विश्व सरकार ही हथियार बंदी करके युद्ध को रोक सकेगी और शन्ति स्थापित कर सकेगी।[74] लोहिया ने साम्यवाद और पूँजीवाद के चंगुल से दूर रहकर ऐसे समाजवाद की संकल्पना की थी जो विश्व व्यापी हो और स्वतंत्र तथा सर्वहितकारी हो। दरअसल वे अर्न्तराष्ट्रीय क्षेत्रों में समानता, समता, तथा वसुधैव कुटुम्बकम् को सर्वाधिक महत्व देते थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि अर्न्तराष्ट्रीय चेतना के विकास के प्रति राष्ट्रीय राजनीति का आधार ही उदासीन है। आधुनिक मनुष्य के विचार तथा कर्म में राष्ट्रीय आजादी और रोटी का पोषण इस प्रकार नियोजित हुआ है कि वह समस्त संसार की शान्ति व रोटी के विरुद्ध है। अभी दृष्टि में मानवतावाद को संस्थापित किये बिना अर्न्तराष्ट्रीयवाद की कल्पना करना कदापि संभव नहीं हो सकता। जब तक घृणा, अन्याय, व शोषण की नीति को त्यागकर प्रेम, भ्रातृत्व, और सहानुभूति की नीति को सम्पोषित नहीं किया जायेगा तब तक विश्व सरकार अथवा अर्न्तराष्ट्रीयतवाद को सफलता नहीं मिल सकती।

लोहिया चाहते थे कि छोटी मशीनो की दिशा में देश अग्रोन्मुख हो और देश के वैज्ञानिक उस दिशा में प्रयत्नशील हो। वे नहीं मानते थे कि विदेशी अविष्कारो के सहारे तथा बड़ी मशीनों के द्वारा भारत की आर्थिक व्यवस्था पुर्नजीवित हो सकती हैं। छोटी मशीनें कम पूँजी मे सहज तकनीकी ज्ञान के साथ जन-जन को अपने साथ लेकर चल सकती है। इससे कच्चे माल तथा मानव शक्ति का दुरूपयोग होने की संभावना भी नहीं रहेगी। निर्धन व्यक्ति के लिये ये सहायक होगी। श्रम का शोषण भी नहीं होगा। क्योंकि उससे व्यक्ति अपने श्रम का समुचित सुफल प्राप्त सकेगा। समाजवाद की संस्थापना होगी और **कमेरा आयेगा और लुटेरा जायेगा।**[75] आर्थिक विकेन्द्रीकरण से देश के सभी वर्गों का समान रूप से विकास हो जायेगा। इस प्रकार जन क्रान्ति होगी, जिसमें राजनीतिक तथा आर्थिक चेतना का समुचित विकास होगा।

कौटिल्य

कौटिल्य को भी समष्टिवादी या समाजवादी माना जाता है। चाणक्य ने समाज के मूल्यात्मक स्वरूप को बताते हुये कहा है —

त्येजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलंत्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, हयत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

अर्थात् कुल के हित के लिये उस व्यक्ति का परित्याग कर देना चाहिये जो कुल नाशक हो। ग्राम के हित के लिये उसके विरोधी कुल का त्याग कर देना चाहिये। पुनः यदि कोई ग्राम समाज के विरुद्ध हो तो उस ग्राम का भी परित्याग कर देना चाहिये। अंत में आत्म कल्याण के लिये यदि समाज बाधक हो तो उस समाज का भी त्याग कर देना चाहिए। स्पष्ट है कि व्यक्ति, परिवार, ग्राम, समाज (जनपद) और आत्मा (लोकात्मा- परमात्मा) इनमें से उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व से अधिक मूल्यवान है। ग्राम और

समाज का महत्व दीन-दुखियों, विशेष रूप से अनाथो के लिये सामान्य अनुभव द्वारा सिद्ध है। इसी प्रकार असहाय, बीमार, तथा आपत्ति ग्रस्त लोगों की जितनी सहायता ग्राम, समाज करता है उतनी उसके परिजन और संबंधीगण भी नहीं करते। इतने पर भी जो लोग ग्राम, समाज की उपेक्षा करके अपने कुल, परिवार और भाई-भतीजावाद के लिये अपनी सारी शक्ति का उपयोग करते हैं। चाणक्य के अनुसार ऐसे लोगों को तो लोक-शत्रु कहना उचित है। मूल्यवत्ता आत्मा के कारण है। इसलिये उपनिषद में कहा गया है—

''आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति।''

सामाजिक दर्शन इसी आत्मा की प्राप्ति के लिये कर्मयोग का विधान करता है। वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास इन चार आश्रमों द्वारा क्रमशः आत्मलाभ को उपलब्ध कराता है। चाणक्य ने ऊपर जो कहा है वह गृहस्थ और वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों के क्रमिक विकास का द्योतक् है अर्थात् जैसे-जैसे हम बृहत्तर संगठन की ओर बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे पूर्व अवस्था उसका साधन बनती जाती है। वस्तुतः सबका मुख्य प्रयोजन आत्मलाभ ही है।

समन्वयवादी दृष्टिकोण

मनुष्य और समाज के संबंध में व्यक्तिवादी, समाजवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा समन्वयवादी दृष्टिकोण समाज और व्यक्ति के बीच समन्वयात्मक संबंध स्थापित करते हुये एक ही परमसत्ता में विश्वास करता है तथा इस जगत में जो विविधता, अनेकता है उसे उसी परमसत्ता की अभिव्यक्ति मानता है। दूसरे शब्दों में, समाज के मूल में एक चेतन तत्व विद्यमान है। समाज मनुष्य का ही व्यापक रूप है जिसमें मनुष्य अपनी नैतिक और आध्यात्मिक इच्छाओं व आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। व्यक्ति और

समाज के हितों में न तो कोई टकराव है, न ही कोई मूलभूत अन्तर। व्यक्ति की समष्टि ही पूर्णता की अभिव्यक्ति है। मानव अपने सर्वोत्तम लक्ष्यों की प्राप्ति समाज में रहकर ही कर सकता है। समाज के प्रति समर्पित जीवन ही उच्च जीवन है। **टी० एच० ग्रीन** ने यहाँ तक कहा है कि समाज नैसर्गिक संस्था है, यह साध्य नही है अपितु अच्छे मानव जीवन का साधनमात्र है। समाज को ग्रीन नैतिक संस्था मानते हैं। ग्रीन के अनुसार भी समाज और व्यक्ति के हितों में कोई विरोध नहीं है। प्रमुख समन्वयवादी दार्शनिकों में टी० एच० ग्रीन, डा० राधाकृष्णन, डा० संगमलाल पाण्डेय तथा मनु के विचार मैने संकलित किये हैं।

टी० एच० ग्रीन

ग्रीन आदर्शवादी विचारधारा के समर्थक थे। आदर्शवादियों ने इस समस्या के द्वारा मानव व्यक्तित्व के स्वरूप और समुदाय के अर्थ तथा इन दोनों के बीच में संबंध की व्याख्या करने का प्रयास किया है। आदर्शवादियों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक लक्ष्य होता है कि वह इसी जीवन में आदर्श आत्मा की उपलब्धि कर ले। जिससे आत्मपूर्णता की प्राप्ति हो जाये। इस प्रकार आत्मोपलब्धि या आत्मपूर्णता की प्राप्ति ही मानव का सर्वोच्च नैतिक लक्ष्य है जिसको प्राप्त करने के लिए वह सचेष्ट रहता है।

ग्रीन की विचारधारा का केन्द्रीय तत्व यह है कि व्यक्ति और समाज में पारस्परिकता का भाव होता है। उनके अनुसार सामाजिक जीवन मानव व्यक्तित्व से उसी प्रकार संबंधित है जिस प्रकार भाषा विचार से संबंधित है। चूंकि विचार के अस्तित्व के बिना भाषा का कोई अस्तित्व नहीं है परन्तु विचार की क्षमता भाषा के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है। इसी प्रकार व्यक्ति के अस्तित्व के अभाव में समाज

भी अस्तित्वविहीन होता है। इसी के साथ यह भी सत्य है कि समाज के अस्तित्व के अभाव में व्यक्ति आत्मोपलब्धि करने में असफल रहता है अतएव व्यक्ति और समाज मे अन्योन्याश्रित् संबंध है।

ग्रीन का मत है कि मनुष्य की इच्छा शाश्वत दैवी आत्मा से उत्पन्न होने के कारण स्वभावत: नैतिक है। ग्रीन भी हीगेल की भांति यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य में अच्छी भावनाओं के साथ-साथ बुरी प्रवृत्तियाँ भी सदैव विद्यमान रहती है। ग्रीन के अनुसार नैतिक चेतना या नैतिक इच्छा की पूर्ति ही मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य है चूंकि बुरी इच्छाये मनुष्य के जीवन का वास्तविक अंग नहीं है, इसलिये मनुष्य को अधिक से अधिक प्रयत्न करके उनसे बचना चाहिये। साथ ही समाज का यह भी लक्ष्य रहता है कि वह सार्वजनिक हित साधना के अपने लक्ष्य को भी पूर्ण करें।

ग्रीन का मानना है कि मानव एक नैतिक प्राणी है तथा उसका चरम लक्ष्य, अन्य प्राणियों तथा समाज का हित सम्पादन करना है। इस प्रकार व्यक्ति का नैतिक और सामाजिक विकास समाज में ही संभव है। ग्रीन के अनुसार क्षणिक सुखदायक कार्यो के सम्पादन के द्वारा आत्मा के विकास में बाधा पड़ती है। अत: इन कार्यो को करने की स्वतंत्रता नहीं मिलनी चाहिये। व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास को स्वतंत्रता का लक्ष्य माना जा सकता है।

ग्रीन का विचार है कि स्वतंत्रता के बिना मनुष्य की नैतिक चेतना का विकास संभव नहीं है एवं स्वतंत्रता का अर्थ निषेधात्मक नहीं है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य सारे कार्य अपनी इच्छानुसार करें और दूसरों के हितों की तरफ कोई ध्यान न दें। ग्रीन के शब्दों में एक मनुष्य तभी स्वतंत्र है जबकि वह उस स्थिति में है जिसमें वह अपने व्यक्तित्व के आदर्श को प्राप्त कर सके, नियमों का पूर्णत: पालन करे

और उन्हें स्वेच्छा से पालन करने योग्य माने, वह सब कुछ बन सके जिसकी उसे इच्छा है और अपने जीवन को सार्थक बना सके अर्थात् प्रकृति के अनुसार जीवन व्यतीत कर सके। स्वतंत्रता असीमित नहीं है। आत्मोन्नति ही स्वतंत्रता है, सद्भावना स्वतंत्रता है दुर्भावना नहीं।

ग्रीन का मानना है कि ''आत्मा एक सामाजिक आत्मा है।'' अरस्तू की भाँति ग्रीन का विचार है कि समुदाय का उच्चतम रूप वह है जिसमें समान का समान के साथ संबंध होता है और जिसमें समस्त सदस्य समुदाय के तथा उसके प्रयोजनों के प्रति समान रूप से निष्ठावान होते हैं। इस प्रकार के समुदाय का सदस्य होना, उसके कार्य में भाग लेना और उसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाना एक स्वस्थ व्यक्तित्व को प्राप्त करने की शर्त है और इसके साथ ही वह उच्चतम संतोष है जो कोई मनुष्य प्राप्त कर सकता है।''[76] ग्रीन का विचार था कि कुछ सीमाओं के भीतर प्रत्येक सामाजिक समुदाय इसी प्रकार का होता है। शासन चाहे कितना ही शक्तिशाली और निरंकुश क्यों न हो,वह भी केवल शक्ति के द्वारा समाज को एकता के सूत्र में बांध कर नहीं रख सकता। शासन शक्ति पर नहीं बल्कि इच्छा पर आधारित होता है इसका कारण यह है कि व्यक्ति अपने स्वभाववश समुदाय से जुड़ता है, कानूनी दण्ड और स्वार्थ पूर्ण लाभों की वजह से नहीं। कांट की भाँति ग्रीन के लिये भी व्यक्तियों का समुदाय ''**साध्यों का राज्य**'' है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक साधन नहीं प्रत्युत एक साध्य माना जाता है। चूंकि समुदाय का और व्यक्ति का यह आदर्श स्वरूप है, अत: प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का पूरा अवसर प्राप्त होना चाहिये कि वह अपनी क्षमताओं का पूरा विकास कर सके।[77]

अत: ग्रीन के दृष्टिकोण से नैतिक समुदाय वह है जिसमें व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता के दावे को, सामाजिक हितों को ध्यान में रखकर दायित्वपूर्ण ढंग से सीमित कर देता है और जिसमें समुदाय उसके दावे का इसलिये समर्थन करता है क्योंकि उसके

क्रियाकलापों और स्वतंत्रता के द्वारा ही सामान्य हित की सिद्धि हो सकती है।[78] ग्रीन के नीतिशास्त्र में मूल उदारवादी तत्व यह है कि वह किसी ऐसे सामाजिक हित को अस्वीकार कर देता है जो उसका समर्थन करने वाले व्यक्यिों से आत्मत्याग अथवा आत्मबलिदान की माँग करता है। समुदाय का दायित्व और अधिकार, व्यक्ति के दायित्व और अधिकार से संबंध रखता है। बोसांके ने इस धारणा को और स्पष्ट करते हुये कहा है कि — ''समाज का सुख और दुख मनुष्यों का सुख और दुख है। वह समान अनुभूति की भावना के अनुसार ही उन्नत अथवा गहन हो सकता है। सामूहिक परिणाम में उसकी इच्छा, उनकी इच्छा होती है। संतुलन कर लेने पर उसकी चेतना इस बात को व्यक्त करती है कि उनमें क्या उदात्त और क्या अनुदात्त है। यदि हम प्रत्येक व्यक्ति की परीक्षा इस आधार पर करते हैं कि वह समुदाय को क्या देता है। तो हम भी समुदाय से यह पूछ सकते हैं कि वह इस व्यक्ति के लिये क्या कर रहा है। अधिकतम या अधिक संख्या उस समय तक अधिकतम सुख को प्राप्त नहीं कर सकती जब तक कि उसका रूप ऐसा न हो जिसमें सब भाग ले सकें और जिसमें भाग लेना एक आवश्यक शर्त हो। लेकिन सुख केवल वही है जिसका व्यक्तिगत स्त्री और पुरुष उपभोग कर सकते हैं और ऐसा कोई आत्मतत्व नहीं है जो मनुष्यों के आत्मतत्व में लीन हो जाये। कुछ ऐसे समाज है जिनमें मनुष्यों के पृथक और विशिष्ट व्यक्तित्व अपना सांमजस्यपूर्ण विकास कह सकते हैं और सामुदायिक सिद्धि में योगदान दे सकते हैं।'' [79]

दूसरे शब्दों में व्यक्ति का लक्ष्य है कि आत्मा की पूर्णता को प्राप्त करना और समाज का यह दायित्व है कि वह व्यक्ति के इस आदर्श की प्राप्ति में सहायक हो। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि और अपनी अन्तरात्मा के अनुसार कार्य करना चाहिये। वही समाज अच्छा है जो व्यक्ति के नैतिक निर्णय के अधिकार को स्वीकार करता है,

साथ ही यह संभावना बढ़ा देता है कि उसका निर्णय सामाजिक दृष्टि से विश्वसनीय होगा। इस प्रकार ग्रीन ने राज्य को व्यक्ति से पृथक तथा उच्च माना है तथा राज्य की सत्ता को उन व्यक्तियों की समष्टि से अलग उच्च माना है जिनसे वह बनता है।

डा० राधाकृष्णन

मनुष्य और समाज के संबंध में डा० राधाकृष्णन का कहना है कि मानव जाति स्वयं जानबूझ कर किये गये कार्यो से और अपनी मूर्खता और स्वार्थ के कारण, जो मानव स्वभाव में मजबूती से जमे हुये हैं, नष्ट हो सकती है। यह बड़ी करूणाजनक बात है कि ऐसे संसार में जो हम सबके आनन्द लेने के लिये है, जो ऊर्जा युद्ध यत्र जात को पूर्णता तक पहुँचने में लगाई जा रही है। उन उर्जाओं के केवल थोड़े से ही हिस्से का प्रयोग हम सबको आनन्द मय कर सकता है। **सेमुअल बटलर** ने ठीक ही कहा है कि –

''मनुष्य के सिवाय और सब प्राणी जानते हैं कि जीवन का उद्देश्य जीवन का आनन्द लेना है।''80

हम मृत्यु और विनाश का तांडव-चलने दे रहे हैं। विनाश की एक अंधी प्रेरणा मानव जाति पर हावी हो गयी दिखती है। और यदि इसकी रोकथाम न की गयी तो हम पूर्ण विनाश की ओर एक लम्बी छलांग लगा लेंगे। एक ऐसे बौद्धिक अंधकार और नैतिक़ बर्बरता के काल की ओर बढ़ने की तैयारी कर रहे होंगे, जिसमें मनुष्य के अतीत की अच्छी से अच्छी उपलब्धियाँ ध्वस्त हो जायेगी।81

डा० राधाकृष्णन के अनुसार हमारे सामाजिक जीवन की गंभीर व्याधि का कारण हमारी सामाजिक संस्थाओं और विश्व के उद्देश्य के बीच का व्यवधान है। प्रकृति ने अनेक जातियाँ बनायी है। जिनकी भाषाएँ, धर्म और सामाजिक परम्पराएँ

भिन्न हैं, और उसने मनुष्य को यह काम सौंपा है कि वह मानव जगत में व्यवस्था उत्पन्न करें और जीवन का ऐसा रास्ता खोज निकाले, जिससे विभिन्न समूह आपसी मतभेदों को हल करने के लिये बल का प्रयोग किये बिना शांतिपूर्वक रह सके एवं सबके लिये गौरव, अच्छा जीवन और समृद्धि प्राप्त करने के लिये रचनात्मक प्रयत्न में एक दूसरे का सहयोग कर सकें।

मनुष्य का अपना जीवन और दूसरों का जीवन पवित्र है। प्रत्येक व्यक्ति में अपनी अलग दमक होती है। उसका विशिष्ट सौंदर्य होता है, उसे देखने के लिये केवल हमारी दृष्टि पर्याप्त सूक्ष्म होनी चाहिये। अच्छा बनने की इच्छा हमारी रचना का अनिवार्य अंग है। इस अच्छा को कितना ही झुकाया जाये या रुपान्तरित किया जाये परंतु इसे नष्ट नहीं किया जा सकता। यह सर्वदा विद्यमान रहती है और जो इसे देख लेता है उसे बहुत माधुर्यपूर्ण प्रतिभावन (रिस्पांस) प्राप्त होता है।[82]

डा० राधाकृष्णन् कहते हैं कि "**विनाशकर्ता मानव ही निर्माता भी है।**" हो सकता है कि इस लक्ष्य तक पहुँचने में देर लगे। हो सकता है कि यह प्रसव, एक नये संसार का जन्म काफी कठिन हो, परंतु यह बात सोचने योग्य भी नहीं है कि मानवीय मूल्यों का स्थायी रूप से विनाश हो सकता है। हममें से प्रत्येक में एक छिपा हुआ ज्ञान है, जीवन की एकता की एक आध्यात्मिक अनुभूति है, जिसके कारण मानव मन में यह विश्वास बना रहता है कि एक अपेक्षाकृत अच्छी व्यवस्था आ कर रहेगी। ऐसे भी समय आये हैं जब यह विश्वास दुर्बल पड़ गया था और आशा धुंधली हो गयी थी। परंतु इन अंधकार के क्षणों के बाद अरूणोदय के क्षण आयें हैं। जिन्होंने मानव जीवन को इतना अधिक समृद्ध किया कि शब्दों द्वारा बता पाना कठिन है। भगवद्गीता में लिखा है कि जब मनुष्य अपने आपको धरती पर देवता समझने लगते हैं और जब वे अपने मूल से अपना संबंध विच्छेद कर लेते हैं तथा इस प्रकार अज्ञान द्वारा पथ भ्रष्ट हो

जाते हैं तब उनमें एक शैतानी विकृति या अहंकार उठ खड़ा होता है जो ज्ञान और शक्ति दोनों की दृष्टि से अपने आपकों सर्वोच्च घोषित करता है—

''ईश्वरोऽहमंह योगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी,

....इत्यज्ञान विमोहिताः।''[83]

अर्थात् मनुष्य स्वायत्त् हो गया है और उसने आज्ञापालन और विनय को तिलांजली दे ही है। वह अपना स्वामी स्वयं बनना चाहता है। जीवनपर अधिकार करने और उसका नियंत्रण करने और ईश्वरहीन संस्कृति का निर्माण करने के प्रयास में वह परमात्मा के विरुद्ध विद्रोह करता है और ईश्वर विश्वास को समाप्त कर देना चाहता है।

डा० राधाकृष्णन् के अनुसार हमारे जीवन की बाहरी अव्यवस्था और गड़बड़ी हमारे हृदय और मन की अस्त-व्यस्तता को प्रतिफलित करती है, जिन आदर्शो को हम पसन्द करते हैं और जिन मान्यताओं को हम अपनाते है, उन्हें हम सामाजिक अभिव्यक्ति प्रदान कर सके, इसके लिये आवश्यक है कि पहले उनमें परिवर्तन किया जाये। हमारे युग में जो वस्तु लुप्त हो गयी है वह आत्मा है, शरीर में कोई विकार नहीं है, हम आत्मा के रोग से पीड़ित है अतः हमें शाश्वत में अपने मूल को खोजना होगा और अनुभवतीत सत्य में फिर विश्वास जमाना होगा जिसके द्वारा जीवन व्यवस्थित हो जायेगा। व्रिद्रोही तत्व अनुशासन में आ जायेंगे और जीवन में एकता आ जायेगी और उसका कुछ लक्ष्य बन जायेगा।

डा० राधाकृष्णन् के अनुसार '' जब तक उस सर्वोच्च (परमेश्वर) की झलक न मिले, जब तक जीवन अपूर्ण रहता है। आत्मा की भी ठीक वैसी ही आँखे हैं जैसी शरीर की है, उन आँखों से वह परमसत्य का ज्ञान प्राप्त करती है और परमपूर्णता से,

जो परमात्मा है प्रेम करना सीखती है। जैसे "आँख आकाश को देखती है वैसे ही साधक लोग परमात्मा के उच्चतम निवास स्थान को सदा देखते है—84

"सदा पश्यन्ति सूरयः तद्विष्णोः परम पदं द्विवीवचक्षुराततम्"

न्यायपूर्वक आचरण, सौंदर्य से प्रेम करना, और सत्य की भावना के साथ विनम्रतापूर्वक चलना, यही सबसे ऊँचा धर्म है।"85

जो संसार अधिकाधिक गंभीर शोकान्त विपत्ति में भटक रहा रहा है, उसकी मुक्ति किसी अन्य उपाय द्वारा नहीं हो सकती। मानव जाति के विस्तृत जगत की सब प्रमुख आध्यात्मिक सामग्रियों का मूल आधार, मानवजाति की वास्तविक एकता की स्वीकृति है। एक ऐसी एकता जिसका व्यक्ति अपनी प्रकृति की गहराई में, अन्य किसी भी अनुभूति मूलक समाज की अपेक्षा अधिक अंग है। यदि हम आध्यात्मिक वास्तविकता में केन्द्रित हो जायें तो हम लोक और भय से मुक्ति पा जाते हैं। इसे एक ऐसे मानवीय समाज के रूप में परिवर्तित करने के लिये, जिसमें हर व्यक्ति की भौतिक और मानसिक उन्नति की व्यवस्था हो, हमें अपनी चेतना का विस्तार करना होगा। अपनी चेतना को बढ़ाना होगा, जीवन के उद्देश्य को पहचानना होगा और उसे अपने कामों में अपनाना होगा। हमें चेतना को लोभ, मोह से मुक्त करना होगा और जब हममें पवित्रता और एकाग्रता आ जाती है तब हम परिवर्तित हो जाते हैं और संसार के स्वरूप और प्रयोजन को समझने लगते हैं और संसार में उस रीति से जीवन यापन करने में समर्थ होते हैं जिस रीति से परमात्मा चाहता है कि हम जीवन बिताएँ। सम्पूर्ण सृष्टि का उद्देश्य मानव जीवन का विकास करना है, मनुष्य का पुर्ननिर्माण करना है। मानव प्रकृति के बदले बिना हम मानव जीवन और मानव समाज को बदल पाने की आशा नहीं कर सकते।

आज हमें आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य के रहन-सहन में आमूल परिवर्तन किया जाये। हम भविष्य को केवल उतनी ही सीमा तक निरापद बनाने में सहायता दे पाते हैं जिस सीमा तक हम अपने आपको बदल पाते हैं। यह आत्म परिवर्तन स्वत: नहीं हो जाता। यह उस साभिप्राय आदर्श के प्रति प्रतिभावन (रिस्पांस) है जो हमें इतिहास में दिखायी पड़ता है। यह आत्म का वास्तविकता के वशवर्ती होना है। यही धर्म का आचरण है।[86]

प्रो० संगम लाल पाण्डेय

डा० संगमलाल पाण्डेय द्वारा प्रतिपादित लोकायनवाद या लोकात्मदर्शन, वह समाज दर्शन है जो पूँजीवाद और साम्यवाद का विकल्प है। इन दोनों के विपरीत लोकायन वाद लोक को आर्थिक नियंत्रण का आधार और प्रत्येक व्यक्ति को अर्थोपार्जन की स्वतंत्रता प्रदान करता है किन्तु आर्थिक समानता के लिये वह लोकचेतना एवं लोक संघर्ष के द्वारा किसी एक वर्ग में सीमित होने से रोकता भी है। लोकायन वाद का आधार आध्यात्मवाद है जिसका प्रसार वैदिक ऋषियों मुनियों ने किया। लोकायनवाद के अनुसार समाज का आधार ईश्वर है जो कि लोक रक्षा के लिये समय-समय पर अवतार लेता रहता है। वह उन सभी मनुष्यों के हृदय में विराजमान है जिन्हें समाज का सदस्य कहा जाता है। जैसे मुधमक्खियाँ अपनी रानी के इर्द-गिर्द मधुछत्ता में रहती है वैसे ही सभी मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व के कारण समाज में रहते हैं। व्यक्ति की आत्मा व्यष्टि आत्मा है और समाज की आत्मा समष्टि आत्मा है दोनों को लोकात्मा कहा जाता है (क्योंकि लोक शब्द का प्रयोग व्यष्टि और समष्टि दोनों अर्थो में होता है) ये लोकात्मा ही मानव समाज का मूलाधार है।[87]

मनुष्य और समाज के संबंध में लोकायनवाद उसी मत को मानता है जिसे **टी० एच० ग्रीन** और भारतीय अद्वैतवादियों ने प्रस्तावित किया है। दोनों का संबन्ध आंगिक

नहीं है। आंगिक संबन्ध का उपयोग करके साम्यवादियों ने मनुष्य की स्वतंत्रता का निराकरण कर दिया तथा समाज को स्वायत्तता और संप्रभुता प्रदान की। मनुष्य स्वयं साध्य है अतः वह समाज का साधन या अंग नहीं हो सकता। इसके विपरीत अस्तित्ववाद ने मानव स्वतंत्रता को परममूल्य के रूप में स्थापित किया परन्तु उसने मानव को इतना महत्व दिया कि समाज का स्वरूप उससे धूमिल हो गया। जबकि अद्वैतवाद और प्रत्ययवाद ने सर्वगत् कल्याण या निःश्रेयस को मनुष्य और समाज दोनों का प्रयोजन बताकर समाज की स्वायत्तता और मानव स्वतंत्रता दोनों की प्रतिरक्षा की। आत्मत्याग के द्वारा आत्मलाभ करना; जैसे मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है वैसे ही वह समाज का भी प्रयोजन है। इस प्रयोजन को ही लोकात्मा की संज्ञा दी जाती है जिसका स्वरूप सत्यम् शिवम् सुन्दरम् या निःश्रेयस है।

मनुष्य व्यष्टि है और समाज समष्टि है दोनों की आत्मा एक ही है। गौड़पाद ने आगमशास्त्र में विश्व अथवा जीवात्मा और विराट का जो अभेद स्थापित किया है उसके आधार पर डा० संगमलाल ने मनुष्य और समाज की आत्मा एक ही मानी है। यद्यपि मनुष्य का अन्तःकरण (बुद्धि, अहंकार, चित्त और मन) और समाज के लोकबुद्धि, लोकमानस, लोकचित्त और लोकअहंकार भिन्न-भिन्न है तथापि जैसे आत्मा मनुष्य के अन्तःकरण और व्यक्तित्व की आधारशिला है वैसे ही वह समाज के अन्तःकरण की भी प्रागपेक्षा है। मनुष्य और समाज के प्रयोजन में इस आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है।[88] दोनों का प्रयोजन - सत्यम् शिवम् सुन्दरम् है। ऋग्वेद के **पुरूष सूक्त** में जिस पुरूष को असंख्य सिर, असंख्य नेत्र, पैर वाला कहा गया है वह वास्तव में विराट समाज ही है जो असंख्य मनुष्यों के माध्यम से, उनके सिर, पैर, नेत्र आदि से अपना कर्म सम्पादित करता है। परंतु इससे यह शंका हो सकती है कि प्रत्येक सामाजिक कर्म का अर्न्तभाव मनुष्यों के कर्म में ही होता है और

इस कारण मनुष्यों से पृथक समाज का कोई अस्तित्व नहीं है। इस शंका का निवारण **निम्नलिखित युक्तियों** से होता है—

(1) लोक बुद्धि का प्रमाण

लोक बुद्धि समाज के अस्तित्व को सिद्ध करती है, उसका अर्न्तभाव सभी मनुष्यों की बुद्धि में नहीं किया जा सकता। लोक बुद्धि से समाज का प्रभाव प्रत्येक मनुष्य के मानस पर पड़ता है। ज्यों - ज्यों मनुष्य शिक्षित होता है और उसकी बुद्धि विकसित होती है त्यों - त्यों उसकी लोकबुद्धि शिथिल हो जाती है। लोक बुद्धि पर लोक भाषा, लोक साहित्य और लोक रीति का प्रभाव रहता है। इसके कारण लोक बुद्धि समाज की सेवा में लगी रहती है।[89] जब कहा जाता है कि जनता की आवाज ईश्वर की आवाज है अथवा जनता जर्नादन है तो इसका अभिप्राय है कि समाज बोलता है और सुनता है उसकी बोली कभी कभी पृथक मनुष्यों की बोली से भिन्न होती है। उसमें लोक बुद्धि का कार्य देखा जा सकता है।

(2) लोकेच्छा का प्रमाण

ईश्वर के बारे में कहा जाता है कि

''पद बिन्नु चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना।''

ईश्वर की ये विशेषताएँ प्रत्यक्षतः समाज पर लागू होती हैं। समाज ऐसे भी कर्म करता है जिसमें किसी मनुष्य की कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती। न चाहते हुये भी मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से समाज की इच्छा का पालन करता है। **उदा०** लोकभय से मनुष्य न चाहते हुये भी अपने ऊपर संयम और अपनी वासनाओं पर जो नियंत्रण स्थापित करता है उसमें समाज की इच्छा ही कारण

है जिसके फलस्वरूप लोकमर्यादा का उल्लंघन करने से मनुष्य डरता है। इसलिये कहा गया है कि —

''यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नकरणीय नाचरणीयम्।

इस लोकक्ति का तात्पर्य है कि लोकरीति का उल्लंघन करना दुष्कर है। विशेषत: उन रीतियों का जो स्वस्थ परम्पराएं बन गयी है। जैसे -दान देना, करुणा करना, बड़ों का आदर करना, पूर्वजों का गुणगान करना इत्यादि स्वस्थ परम्पराएं जिन्हें समाज मनुष्यों से उनकी इच्छा के विपरीत भी करवाता रहता है। यद्यपि सामाजिक कर्म का सम्पादन मनुष्य ही करते हैं तथापि जिस लोकेच्छा के कारण सामाजिक कर्म किये जाते हैं वह मनुष्यों की इच्छाओं का संग्रह नही है किन्तु उनकी इच्छाओं का आधार है।

(3) मूल्यों का प्रमाण

समाज मूल्यों का निकाय है। वह त्याग को भोग से और श्रेय को प्रेयसे अधिक मूल्यवान मानता है, भले ही कोई मनुष्य अहिंसक, सत्यवादी या ब्रह्मचारी न हो सके तथापि समाज अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य को आदर्श मानता है और जो मनुष्य अपने जीवन में इन मूल्यों का थोड़ा भी पालन करता है उनको वह सम्मान देता है।

वही समाज जीवित रहता है जिसमें ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, त्याग आदि मूल्यों की प्रतिष्ठा रहती है। मनुष्य मूल्यान्वेषी है।उसके मूल्य बोध का निर्माता समाज है, जिसका स्वरूप मूल्यात्मक है। संक्षेप में, मूल्यों के निकाय को धर्म कहते हैं। और जो धर्म से रहित है उसे पशु कहा गया है। इस प्रकार जो धर्म मनुष्य का लक्षण है वही समाज का स्वरूप है। अत: समाज की सत्ता धर्म और मूल्यों के माध्यम

से प्रत्येक मनुष्य को अनुभवगम्य है। चाणक्य ने समाज के मूल्यात्मक स्वरूप को बताते हुये कहा है—

''त्येजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलंत्यजेत्।

ग्रामं जनपदस्यार्थे, हयत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्॥''

अर्थात् कुल के हित में उस व्यक्ति का परित्याग कर देना चाहिये जो कुलनाशक हो। ग्राम के हित के लिये विरोधी कुल का त्याग कर देना चाहिये। पुनः यदि कोई ग्राम समाज के विरुद्ध हो तो ग्राम का भी परित्याग कर देना चाहिये। अंत में आत्म कल्याण के लिये यदि समाज बाधक हो तो उस समाज का भी त्याग कर देना चाहिये। स्पष्ट है कि व्यक्ति, परिवार, ग्राम समाज (जनपद) और आत्मा (लोकात्मा - परमात्मा) इनमें से से उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व से अधिक मूल्यवान है। **उपनिषद** में कहा गया है— ''आत्मनस्तु कामाय सर्वप्रिय भवति।'' सामाजिक दर्शन इसी आत्मा की प्राप्ति के लिये कर्मयोग का विधान करता है। वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ (समाज प्रस्थ), संन्यास इन चार आश्रमों द्वारा क्रमशः आत्मलाभ को उपलब्ध कराता है।

समन्वयवादी दार्शनिकों में **मनु** का भी मुख्य स्थान है। मनु ने व्यक्ति और समाज को सुव्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिये एक सामान्य नियम बनाया जिसे ''**वर्णाश्रम धर्म**'' के नाम से जाना जाता है। वर्णाश्रम धर्म से दो व्यवस्थाओं का ज्ञान होता है—

वर्ण — समाज का वर्गीकरण

आश्रम — व्यक्ति का वर्गीकरण

वर्ण व्यवस्था के अनुसार मनुष्य को चार भागों में बॉटा गया है— ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उदर से वैश्य एवं पाद से शूद्र को जोड़ा गया है साथ ही इनके कार्यो का भी विभाजन किया गया है। ऋग्वेद[90] के अनुसार -

''ब्राह्मणोऽस्य मुखासीद् बाहु राजनन्य: कृत:।

उरुतदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां शुद्रोऽजायत॥

इसी प्रकार मनु ने आयु के साथ-साथ मनुष्य के कार्यो और दायित्वों का भी निर्धारण किया गया है जो कि आश्रम के नाम से जाने जाते हैं। इनको चार भागों मे विभाजित किया गया है। ब्रह्मचर्य —0-25 वर्ष, गृहस्थ - 25 से 50 वर्ष, वानप्रस्थ - 50 - 75 वर्ष और संन्यास - 75 से 100 वर्ष, इन चार आश्रमों के अनुसार कर्त्तव्यों का निर्धारण कर मनु ने एक समुचित समाज व्यवस्था दी है।

मनु ने वर्णाश्रम व्यवस्था देकर समाज और राज्य दोनों के दयित्वों की ओर संकेत किया है। वर्णो के दायित्व में जहॉ एक ओर व्यक्ति के उत्थान को देखा जा सकता है। वही दूसरी ओर समाज के गठन, व्यवस्था और संचालन में सुविधा देखी जा सकती है। आश्रमों की व्यवस्था में, व्यक्ति के दायित्वों को स्पष्ट किया गया है। यह व्यवस्था व्यक्ति प्रधान नहीं बल्कि समाज प्रधान है। यह प्लेटों के वर्गो के सिद्धान्त से मिलती जुलती है। सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की दृष्टि से वर्णाश्रम व्यवस्था का गठन भारतीय समाज दर्शन के लिये महत्वपूर्ण माना जा सकता है क्योंकि इसमें सामाजिक दृष्टि से सभी वर्गो का अन्योन्याश्रित संबंध भी देखा जा सकता है।

इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म भारतीय जीवन व्यवस्था की मूल धुरी है। समाज और जीवन की व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने तथा, समाज में एकबद्धता लाने और जीवन के लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करने के लिये यहीं से प्रारंभ करना पड़ता है।

मनुष्य और समाज के संबंध में अब तक हमने निम्न विचारको के विचारो का अध्ययन किया। परन्तु इस संबंध में **मैकाइवर एण्ड पेज** ने विस्तृत सर्वेक्षण किया है जिसका विवरण उनकी पुस्तक "Society" (समाज) में मिलता है। जो इस प्रकार है— मैकाइ्वर और पेज ने इस पारस्परिक संबंध की छानबीन के लिये अनेक मार्गो का अनुसरण किया है जिनमें से निम्न तीन महत्वपूर्ण है:-

(1) वन्य पालित बच्चों के उदाहरण

(2) स्वं अथवा स्वयं भाव का विकास

(3) सामाजिक विरासत पर मनुष्य की अनोखी निर्भरता

(1) वन्य पालित बच्चों के उदाहरण

अर्द्ध प्रयोगात्मक (quasi-experiment) प्रकार के कुछ प्रमाणों से इस बात की पुष्टि होती है कि मनुष्य की मानवीय प्रकृति समाज में उसकी सदस्यता पर आश्रित है। यद्यपि सभी सामाजिक संबंधों से शिशुओं को पृथक कर परीक्षण करना संभव नही है तथापि मिस्र के सामेटिकस से लेकर स्कॉटलैण्ड के जेम्स चतुर्थ जैसे निरंकुश सम्राटों के संबंध में बताया जाता है कि उन्होने ऐसे परीक्षण किये थे। किन्तु संयोग और आकस्मिकता के एक दो प्रसंगों में पूर्व निश्चित उद्देश्य ने पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।[91] ऐसे तीन प्रसंग नीचे वर्णित हैं—

(A) कास्पर हाउस का प्रसंग विशेष महत्व का है क्योंकि यह अभागा युवक राजनैतिक कुचक्रों के कारण संभवतः मानवीय सम्पर्को से अलग कर दिया गया था अतः उसकी दयनीय दशा का कारण अर्न्तजात (Innate) मनोवृत्ति का दोष सिद्ध नहीं किया जा सका। 1828 में 17 वर्ष की आयु में वह शायद ही चल सकता था, उसका

मन शिशु का था और वह एक दो अर्थहीन शब्दों का उच्चारण कर लेता था। महत्व की बात यह है कि वह निर्जीव पदार्थो को भी जीवित मानता था। उसकी हत्या के बाद शव-परीक्षण से स्पष्ट हुआ कि उसका मानसिक विकास सामान्य से भी कम था। कास्पर हाउस को समाज से अलग एवं मानवीय प्रकृति से वंचित किया गया था।[92]

(B) वन्य प्रसंगों में एक बड़ी रोचक घटना का उदाहरण है कि 1920 में दो हिन्दू बच्चे (क्रमशः 8 वर्ष, 2 वर्ष के) थे, एक भेड़िये की माँद से प्राप्त किये गये। छोटा बच्चा खोज के कुछ समय बाद ही मर गया किन्तु बड़ी बच्ची, जिसका नाम **कमला** रखा गया था 1929 तक जीवित रही। कमला के व्यवहार का अध्ययन करने पर पाया गया कि उसमें एक भी लक्षण ऐसा नहीं था जिसे मानवीय व्यवहार में सम्मिलित किया जा सके। वह पशुओं के समान चारों पैरों (हाथ-पैर) पर चलती थी। भेड़ियों जैसी गुर्राहट के अलावा उसकी कोई भाषा न थी और वह वन्य पशुओं के समान मनुष्यों से झिझकती थी। मृत्यु के पूर्व तक वह धीरे धीरे कुछ सरल शब्दों को बोलना और मानव के समान खाने - पहनने जैसी कुछ आदतें सीख गयी थीं। किन्तु जब वह मानव समाज की सदस्या हुयी तभी उसमें वैयक्तिकता विकसित हुयी।[93]

(C) अन्ना नामक एक अमरीकी अवैध संतान का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, जिसको कि 6 महीने की अवस्था में ही एक अकेले कमरे में बंद किया गया था और पाँच वर्ष की अवस्था में 1938 में बाहर निकाला गया। बंदी जीवन में अन्ना को दूध के सिवा खाने को कुछ नहीं दिया गया। न साधारण शिक्षा दी गयी और न ही दूसरे लोगों से उसका सम्पर्क ही रहा। परिणामतः उस बच्चे में साधारण पंचवर्षीय बच्चे के कोई लक्षण प्रकट नहीं थे। खोज के समय अन्ना न चल सकती थी, न बोल सकती थी। वह निरपेक्ष थी, लोगों के प्रति उदासीन थी। बंधन मुक्ति के पश्चात् अन्ना को भी शिक्षा दी गयी। (1942) में अपनी मृत्यु से पहले अन्ना का शीघ्र मानवीकरण हो गया था। अन्ना

के प्रसंग से स्पष्ट होता है कि **मनुष्य में सामाजिक प्रकृति तभी विकसित होती है जब वह सामाजिक मनुष्य होता है और जब वह अनेक मनुष्यों के साथ सामाजिक जीवन में भागीदार होताहै।**[94]

(2) 'स्व' अथवा स्वयं भाव का विकास

मैकाइवर और पेज के अनुसार बच्चे में जिस प्रक्रिया के द्वारा समाज से स्वयं स्थापित कर लेने की क्षमता विकसित होती हैं। उसके अध्ययन से हमे व्यष्टि और समाज के बीच आधारभूत संबंध पर एक और प्रमाण प्राप्त होता है। सामाजिक जीवन के लिये क्षमता का आविर्भाव, स्वयंभाव या व्यक्तित्व की वृद्धि का एक पहलू है। बच्चा प्रौढ़ों के सामाजिक व्यवहार के अनुकरण मात्र से संतुष्ट नहीं होता, किन्तु अनुकरण की प्रक्रिया में स्वयं उसकी सामाजिक प्रकृति धीरे-धीरे प्रकट होती है। प्रारंभिक स्थिति में बच्चा, वस्तुओं और व्यक्तियों में भेद नहीं समझता। माता के स्तनों से और दूध की बोतल की चुसनी से उसे सावयव संतुष्टि मिलती है। इसी प्रकार उसकी प्रथम बातचीत **स्वगत संवाद** (जिसमें बच्चा प्रकट रूप से स्वयं से बाते करता है) धीरे-धीरे ऐसी बातचीत में बदल जाती है जिसमें विचारों का आदान प्रदान होता है। जैसे - **जीन पियाजे** ने कहा है कि **आत्मकेन्द्रित विचार''** (Ego-centric thought) **तार्किक समन्वय** (Rational co-ordination) में विकसित होता है। जिसमें व्यक्ति और उसके जगत के बीच संबंधों की तार्किकता का आविर्भाव होता है। ज्यों-ज्यों बच्चा स्वयं भाव को प्राप्त करता जाता है, वह यह समझने लगता है कि दूसरे लोगों के भी अपने स्वंयभाव है।[95]

जी० एच० मीड (G.H Mead) के अनुसार बच्चे के स्वयंभाव का विकास उसके दिवा स्वप्नों में तथा गुड़िया के और अन्य बच्चों के साथ उसके खेलों में होता

है। जहाँ वह दूसरे के कार्यो का विशेषकर अपने माता-पिताओं अथवा आदर्शवीरों के कार्यो का अपने जीवन में अभिनय करता है।[96] इसके अतिरिक्त स्वयंभाव के विकास की प्रक्रिया में बच्चे का दूसरे लोगों के व्यवहारों के साथ सामजंस्य निहित है जिसे कि **चार्ल्स एच० कूले०** (C H Cooley) सहित कुछ समाजशास्त्रियों द्वारा व्यक्तित्व निर्माण में एक महत्वपूर्ण कारण माना गया है। हाल की खोजों से और अधिक स्पष्ट हो गया है कि स्वयंभाव का आविर्भाव केवल समाज में और सामूहिक जीवन में आदान प्रदान की भावना से हो सकता है।

(3) सामाजिक विरासत पर मनुष्य की अनोखी निर्भरता

मैकाइवर और पेज के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक संबंध की उपज है और इस सामाजिक संबंध का निर्धारण कुछ पूर्व स्थापित लोकाचारों से होता है। समाज हमारे लिये परम आवश्यक पर्यावरण है। यह उस भूमि से अधिक आवश्यक है जिसमें हमारा पालन पोषण होता है। **सामाजिक विरासत** (Social heritage) के साथ हमारा संबंध अत्यन्त गहरा है- बीज का भूमि के साथ जो संबंध है उससे भी गहरा है, जहाँ वह (बीज) विकसित होता है।[97]

हमारा जन्म एक ऐसे समाज में होता है जिसकी प्रक्रियाएं हमारे वंशानुक्रम का निर्धारण करती है और जिसके कुछ अंश समय बीतने के साथ केवल बाह्य सम्पत्ति न रहकर हमारी आंतरिक एवं मानसिक साज सज्जा का रूप बन जाते हैं। सामाजिक वंशानुक्रम हमारे सामाजिक अनुभव के कारण नित्य बदलता रहता है और यही हमारे व्यक्तित्व को जागृत और निर्देशित करता है। समाज अनेक रूपों में व्यक्ति की आंतरिक शक्तियों को मुक्त और सीमित करता है जैसे - निश्चित अवसरों और उत्तेजनाओं को देने से, हम पर निश्चित प्रतिबंध लगाने और हमारे आचरण में हस्तक्षेप करने से और

सूक्ष्म एवं अदृश्य रूप से हमारे विश्वासों, मनोवृत्तियों, नैतिक आचरणों और आदर्शो को गढ़ने से भी होता है।

व्यक्ति और सामाजिक वंशानुक्रम की इस मूलभूत एवं गत्यात्मक (dymanıc) अन्योन्याश्रिता के ज्ञान से 'अरस्तू' के इस कथन की सत्यता मालूम होती है। उनके अनुसार "मनुष्य एक समाज प्रिय प्राणी है"। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों के संबंध में समाज के प्रति परमार्थ अथवा परोपकारी व्यवहार करता है और न तो हमारा यह अभिप्राय है कि मनुष्य, मानव प्रकृति की किसी मूलभूत रचना के कारण सामाजिक होता है। किन्तु हमारा तात्पर्य यह अवश्य है कि समाज के बिना सामाजिक वंशानुक्रम के बिना, मानव का व्यक्तित्व न बनता है और न बन सकता है।

संदर्भ ग्रंथ

1 See his Leviathan, Chaps XIII & XVII

2 See G D H Cole's Introduction to The social contract & discourse by Jean Jacques Roussean (London 1913)

3 Russian sociologist Novicow & german political scientist - BLUNTCHLI, P SOROKIN - "contemporary sociological theories" (New York 1928)

4 See P SOROKIN - "Sociocultural Dynamics & Evolutionism" in "twentieth centuary sociology" (G Gurvitch & W E Moore (New Yark 1945 P - 96-120)

5 सेबाइन – "राजनीति दर्शन का इतिहास" – पृ०–486

6 वही – पृ०–487

7 John Lock, "of civil Government", book II, Sect 25

8 Ibid " " 3

9 Ibid " " 99

10 Ibid " " 131

11 Ibid " " 96

12 Mill – "On Liberty" ch 3

13. सेबाइन –"राजनीति दर्शन का इतिहास" – पृ०–664

14 वही - पृ०-665

15 स्वामी विवेकानंद -"जाति संस्कृति और समाज" पृ०-3

16 वही - पृ०-5

17. वही - पृ०-6

18 कठोपनिषद 1/3/14

19. श्री भगवद्गीता 13/27/28

20. स्वामी रामतीर्थ - 'मानवता और विश्व प्रेम' - पृ०-8

21. वही - पृ०-25

22. वही - पृ०-48

23. वही - पृ०-73

24. वही - पृ०-82

25. केनोपनिषद्

26 स्वामी रामतीर्थ - "मानवता और विश्व प्रेम"- पृ०-94

27. वही - पृ०-99

28. श्री अरविंद - "द लाइफ डिवाइन" - पृ०-734

29. श्री भगवद्गीता - 5 - 7, 6 - 29, 13 - 27

30. कपिश्वर म० वा० — "महर्षि अरविन्द का योगदर्शन" 26 जनवरी, 1973, नई दुनिया विशेष - पृ०-3

31 श्री अरविंद - " द लाइफ डिवाइन" - खण्ड-2, अध्याय - 20

32. वही - अंतिम अध्याय

33. वही - पृ०-956

34. सेबाइन - "राजनीति दर्शन का इतिहास" - पृ० -421

35. Thomas Hobbes – "Leviathan", – ch XI

36 सेबाइन - वही - पृ०-422

37. Hobbes – "Leviathan" — ch. xiv

38 सेबाइन — वही - पृ०-424

40. Ibid

41 जार्ज एच० सेबाइन- "राजनीति दर्शन का इतिहास" - पृ०-584

42. वही - पृ०-592

43 वही - पृ०-619

44. Hegel- "Philosophy of Right" - Sect. 270

45 सेबाइन - राजनीति दर्शन का इतिहास - पृ०-612

46 हर्बर्ट मार्क्यूज - Reason and Revolution Hegel and the rise of social theory" (1941) में हेगल के चिंतन के इस पक्ष पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

47. The German Ideology– Eng Trans by R. Pascal, pp 14f.

48 सेबाइन - "राजनीति दर्शन का इतिहास" - पृ०-717

49. The German Ideology– Eng Trans by R Pascal pp 14f

50 Mussolını. "Quoted by MCGovern, From "Louther to Hıtler" -P. 655

51 Mussolını - "Encılopedıa Italıana" - Vol XIV (1932)

52. ए. डी आर्शीवादम् -"राजनीति विज्ञान"— पृ०-714

53. वही - पृ०-714

54. हिटलर – My new order" (New York 1941) pp 619

55 सेबाइन - "राजनीति दर्शन का इतिहास" - पृ०-822

56 हिटलर - "Meın Kampf" - P 223 - 784

57. वही " - P 780

58. सेबाइन - "राजनीति दर्शन का इतिहास" - पृ०-831

59. हिटलर – Meın Kampf - P. 469

60 वही पृ०-136

61. वही - पृ०-636

62. महात्मा गाँधी- अनुवादक यशपाल जैन - "गॉधी चिन्तन' - पृ०-11

63. " - यंग इण्डिया - 14 अप्रैल 1927

64. ,, - वही - 25 नवम्बर 1925

65. ,, - वही - 14 अप्रैल 1927

66 ,, - वही - 1 सितम्बर 1921

67. ,, - वही - 31 अक्टूबर 1921

68. ,, - हरिजन - 25 अगस्त 1940

69. T H Green - "prıncıple of polıtıcal oblıgatıon"- P 138

70 Dr Lohıa - "MARX, Gandhı & Socıalısm"- P 350

71. डा० लोहिया — "सिविल नाफरमानी की व्यापकता" - पृ०-15

72. डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर-" डा० राम मनोहर लोहिया - पृ०-87

73 लोहिया - "भारत मे समाजवाद" - पृ०-19

74 डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर — "डा० राम मनोहर लोहिया" - पृ०-126

75. वही पृ०-129

76 सेबाइन - राजनीति दर्शन का इतिहास - पृ०-684

77. वही - पृ०-687

78 वही - पृ० 687

79. हॉबहाउस " The Metaphysıcal theory of the state" (1918) P 133.

80 बटलर -'जैनेसिस'' - पृ०-3 5

81 डा० राधाकृष्णन् - ''धर्म और समाज'' - पृ०-7

82. वही - पृ०-12

83. श्री भगवद्गीता - अध्याय 16 - 14 / 15

84. ऋग्वेद

85 डा० राधाकृष्णन् - ''धर्ण और समाज'' - पृ०-45

86. वही - पृ०-47

87 डा० जटाशंकर त्रिपाठी - ''समाज धर्म एवं दर्शन'' - पृ०-76

88. वही - पृ०-80

89 वही - पृ०-80

90 ऋग्वेद — 10 90 12

91 For collection of such instance see R Briffault- "The Mother's" (New York 1937, Chap I)

92 मैकाइवर और पेज - "Society" - P.40

93 for a brief account of the "wolf children" see K Young sociology (New York 1942 P 5-8), T. A.L. Singh & R M. Zingg-wolf child & Feralman - New Yark, 1942.

94 For the case of Anna, see K Davıs "Extreme Isolatın of a chıld" "Amerıcan Journal of socıology" XLV (1940) 554-565

95 Jean pıaget – "Intellectual evolutıon ın scıence & Man" - P 409 - 422

96 George H Mead- "Mınd, self & socety" (Chıcago 1934, P-135-226)

97. मैकाइवर और पेज - "Socıety" – P 42

तृतीय अध्याय

व्यक्ति एवं समाज के पारस्परिक संबंध-विविध मान्यताओं की समीक्षा

व्यक्ति और समाज का पारस्परिक संबंध - विविध मान्यताओं की समीक्षा—

व्यक्ति और समाज के संबंध में अब तक जो विवेचना की गयी है उसमे मुख्यत: तीन तरह के सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं—

(1) व्यक्तिवादी सिद्धान्त

(2) समाजवादी सिद्धान्त

(3) अद्वैतवादी या समन्वयवादी सिद्धान्त

तीनों सिद्धान्तों की विस्तृत विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक सिद्धान्त मे यदि कुछ गुण हैं तो कुछ न कुछ कमियाँ भी हैं। परन्तु हमारे सम्मुख यह महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है यह जानना कि ? इन तीनों में कौन सी मान्यता अधिक उपयुक्त है, अर्थात कौन सा सिद्धान्त सबसे अधिक श्रेष्ठ है जो मेरी इस शोध समस्या ''**व्यक्ति और समाज के संबंध**'' को सबसे अधिक स्पष्ट रूप से व्याख्यायित करता हो और जो इस समस्या का सबसे अच्छा समाधान प्रस्तुत करता हो। इसके लिये इन सभी सिद्धान्तों के गुण दोषों पर विचार करना आवश्यक है जो निम्नवत् है—

व्यक्तिवादी सिद्धान्त - व्यक्ति को एक स्वतंत्र इकाई मानता है जो किसी दूसरे व्यक्ति पर आश्रित नहीं होता है। मनुष्य को अपना अस्तित्व स्थापित करने के लिये समाज की आवश्यकता नहीं होती। वह अपने आर्थिक और अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति समाज के बिना भी कर सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब कमजोर एवं दुर्बल व्यक्तियों को, सशक्त एवं बलवान व्यक्तियों से खतरा होता है तो उन्हें समाज की आवश्यकता का अनुभव होता है। समाज की स्थापना व्यक्तियों द्वारा अपनी इच्छाओं,

अभिलाषाओं और अपेक्षाओं की पूर्ति के लिये की जाती है। समाज तो साधन मात्र है। समाज को व्यक्ति के क्रिया कलापों में आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। जिससे व्यक्ति निर्बाध रूप से अपने विकास-पथ पर अग्रसर हो सके तथा अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कने में सक्षम हो सके। व्यक्तिवाद का निर्देशक सिद्धान्त है- " **व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता मिले और राज्य कम से** कम हस्तक्षेप करे।" वह यह मानता है कि यदि राज्य स्वयं अपनी रक्षा के लिये व्यक्ति की स्वतंत्रता में दखल देता है तो वह अपनी सीमा के अन्दर ही काम करता है परन्तु जहॉ केवल व्यक्ति के ही हित का प्रश्न हो, वहाँ राज्य को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। **जे० एस० मिल** के अनुसार "व्यक्ति का अपने ऊपर, अपने शरीर और मस्तिष्क के ऊपर पूरा अधिकार है।"

व्यक्तिवादी अपने इन विचारों का समर्थन कई दृष्टिकोणों से करते हैं—

नैतिक दृष्टिकोण के आधार पर व्यक्तिवादी यह मानते हैं कि चरित्र के विकास के लिये काम करने की स्वतंत्रता अनिवार्य है। इस स्वतंत्रता के बिना मनुष्य एक स्वचलित यंत्र मात्र रह जायेगा। जीवन को आनन्द देने वाली बात यह है कि हमें अपने जीवन को अपने आदर्शो के अनुकूल बनाने की स्वतंत्रता हो। व्यक्ति का विकास तभी संभव है जब उसे आत्मनिर्भर बनने का अवसर मिले, अपनी आन्तरिक योग्यता (Intrinsic worth) को प्रकट करने का अवसर मिले। **मिल** का भी कहना है कि 'यदि यह अनुभव किया जाये कि व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास कल्याण की एक प्रमुख शर्त है। वह सभ्यता, उपदेश, शिक्षा और संस्कृति का सहयोगी तत्व ही नहीं है बल्कि इन सब चीजों का एक आवश्यक भाग और शर्त है तब इस बात का कोई खतरा नहीं रहेगा कि हम स्वतंत्रता की कम कीमत आँके।[1]

समाज या राज्य का हस्तक्षेप एक हद तक उचित है पर उससे आगे बढ़ने पर वह व्यक्ति को दबा देता है। अतिशासन न केवल व्यक्ति की स्वालम्बन की शक्ति को नष्ट करता है, बल्कि उसे आलसी भी बना देता है। आर्थिक दृष्टिकोण से व्यक्तिवादियो की राय में हर मनुष्य अपना स्वार्थ देखता है और अपने हितों को वह सबसे अच्छी तरह जानता है। इसलिये यदि हर मनुष्य पूरी तरह स्वतंत्र छोड़ दिया जाये तो वह अपने अवसरों का अच्छे से अच्छा उपयोग करेगा और प्रत्यक्ष रूप में समाज का भी हित करेगा। जैसे - यदि पूंजीपति को स्वतंत्र छोड़ दिया जाये तो वह अपने चारों ओर इस बात की खोज करेगा कि वह अपनी पूँजी कहाँ पर लगाये कि जिससे उसे ज्यादा लाभ हो सके। इसी प्रकार मजदूर भी अपने चारों ओर इस बात की खोज करेगा कि कहाँ पर उसे मजदूरी की अधिक से अधिक सुविधाजनक शर्ते मिल सकती है और वही मजदूरी करेगा। इस प्रकार स्वतंत्र प्रतियोगिता (Free competition), मांग और पूर्ति के नियम का बेरोकटोक लागू होना समाज के आर्थिक स्वार्थो के लिये हितकर है।)

व्यक्तिवादियों का ये भी दावा है कि व्यक्तिवाद जीव विज्ञान के उस नियम के बिल्कुल अनुरूप है जिसके अनुसार अस्तित्व के लिये बराबर संघर्ष (Struggle for existence) होता रहता है और इस संघर्ष में योग्यतम ही बच पाता है। (Survival of the fittest) स्पेंसर इसके समर्थक है जिनका कहना कि जीवन संघर्ष और योग्यतम की विजय के नियम से ही नीची कोटि के जीवों का विकास हुआ है और यदि मनुष्य जाति को सबल, समर्थ और क्रियाशील बनाना है तो इसी नियम को मनुष्यों में भी काम करने देना चाहिये। विकास और प्रगति का स्वाभाविक मार्ग यह है कि गरीब, कमजोर और अयोग्य व्यक्ति नष्ट हो जाये। यद्यपि इससे कुछ व्यक्यिों के साथ अन्याय होता है पर समाज का हित इसी में है। इसका अर्थ यह है कि राज्य केवल वे

ही काम करे जिनका लक्ष्य ''निषेधात्मक नियंत्रण'' हो। राज्य को सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, उद्यान, गरीबों की सहायता, डाकखानों की व्यवस्था आदि कार्य नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करना प्रकृति की विवेकपूर्ण व्यवस्था में दखल देना है।

गिलक्राइस्ट[2] ने राज्य के निम्नलिखित कार्य बताये हैं —

(1) बाहरी आक्रमणों से राज्य और व्यक्तिकी रक्षा करना।

(2) चोरी, डकैती या अन्य प्रकार की क्षति से सम्पत्ति की रक्षा करना।

(3) व्यक्तियों की एक दूसरे से रक्षा करना।

(4) अवैध संविदाओं के भंग किये जाने से व्यक्ति की रक्षा

(5) असमर्थ व्यक्तियों की रक्षा करना।

(6) प्लेग, मलेरिया जैसी निवारणीय बीमारियों से व्यक्ति की रक्षा करना।

यह तो ठीक है कि व्यक्तिवादी सिद्धान्त में एक तात्कालिक उपयोगिता पायी जाती थी। पर वर्तमान परिस्थितियों में यह उपयोगिता समाप्त हो गयी है। यह सिद्धान्त मनुष्य के सामाजिक जीवन के पक्ष पर इतना अधिक जोर देता है कि दूसरा पक्ष बिल्कुल भुला ही दिया जाता है। इसके समर्थन में दिये गये ऊपर के तर्क निश्चित रूप से एक पक्षीय और कुछ हद तक असत्य भी है।

समाजवादियों का कहना है कि व्यक्तिवादियों के इस विचार से सभी सहमत होंगे कि आत्म निर्भरता सबसे अच्छी सहायता है जो व्यक्ति को मिल सकती है और सरकार की नीति ऐसी होनी चाहिये कि हर मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सके। परन्तु इसका मतलब यह भी नहीं है कि राज्य केवल सुरक्षा की व्यवस्था करे और अपराधों का दमन करे। आधुनिक सभ्यता में व्यक्ति के लिये अपनी सभी शक्तियों का पूरा और

उचित विकास असंभव तो नहीं परन्तु कठिन अवश्य है। आजकल के जीवन में अनेक ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जिन पर व्यक्ति अकेले काबू नहीं पा सकता और उसे राज्य की सहायता की जरूरत पड़ती है। राजकीय कार्य क्षेत्र का विस्तार किये बिना, अधिकांश लोगों के लिये अपना पूर्ण विकास करना संभव नहीं है। विशुद्ध व्यक्तिवाद व्यक्तियों को प्रतिभाशाली बनाने के बजाय उनका व्यक्तित्व समाप्त कर देता है।

समाजवादी, व्यक्तिवादियों की इस मान्यता की भी आलोचना करते हैं कि मनुष्य मौलिक रूप में स्वार्थी है। समाजवादियों का यह मानना है कि व्यक्तिवाद का आधार ही कमजोर है क्योंकि ये आधार वो सुखवादी सिद्धान्त (hedonistic theory) है जिसे बहुत पहले ही गलत सिद्ध किया जा चुका है। मनुष्य केवल अपना ही भला नहीं चाहता बल्कि वह दूसरों की भलाई भी चाहता है। हर व्यक्ति में स्वार्थ और परमार्थ की भावना विभिन्न मात्राओं में पायी जाती है अतः मानव स्वभाव के केवल एक पक्ष के आधार पर ही राज्य के कार्य क्षेत्र के बारे में एक सिद्धान्त बनाना उचित नहीं है। व्यक्तिगत कल्याण और पारस्परिक कल्याण परस्पर विरोधी नहीं हैं।

व्यक्तिवाद भी राज्य को आवश्यक बुराई मानता है। व्यक्तियों के अवांछित असामाजिक आचरण पर नियंत्रण स्थापित करने के लिये राज्य का होना आवश्यक है। व्यक्ति अपने लक्ष्य प्राप्ति का प्रयास करते समय जब दूसरे व्यक्तियों को बाधक पाता है तो वह दूसरे व्यक्तियों की स्वतंत्रता को समाप्त करने का प्रयास करता है इस प्रकार अपनी स्वतंत्रता बनाये रखने के लिये व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की स्वतंत्रता में बाधक बन जाता है। अतः इस प्रकार की प्रवृत्तियो पर नियंत्रण स्थापित करने के लिये राज्य की आवश्यकता होती है। अतः व्यक्तिवादियों की यह धारणा गलत सिद्ध होती है कि मनुष्य पूर्णता प्राप्त करने में सक्षम है, जब तक वह अपूर्ण है तब तक राज्य की आवश्यकता है परन्तु जब वह पूर्णता प्राप्त कर लेता है तो राज्य की कोई आवश्यकता

नहीं होती। परन्तु व्यक्ति पूर्ण भी हो सकता है, ऐसी विचारधारा एक कल्पना मात्र है, जो कभी साकार होने वाली नहीं प्रतीत होती इसलिये राज्य को आवश्यक बुराई न मानकर आवश्यक अच्छाई कहना चाहिये। राज्य व्यक्ति को पूर्णता की ओर ले जा सकता है। पूर्णता एक आदर्श है जिस पर चला जा सकता है, उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता।

समाजवादियों को व्यक्तिवाद की यह मान्यता भी मान्य नहीं है कि व्यक्ति ही अपने हित-अहित का सर्वोत्तम निर्णायक है और प्रत्येक व्यक्ति अपना हित भली भाँति समझता है। जबकि अनुभवों से यह बात सिद्ध होती है कि प्रत्येक व्यक्ति के बारे में यह बात ठीक नहीं है। व्यक्ति अपने वर्तमान स्वार्थ को भले ही ठीक प्रकार समझ ले, पर इस बात का कोई भरोसा नहीं किया जा सकता कि वह अपने भावी हितों को भी समझता है और फिर यदि व्यक्ति अपने हितों का सबसे अच्छा पारखी हो, तो भी इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह उन हितों की प्राप्ति के साधनों का भी अच्छा ज्ञाता हो। कभी-कभी राज्य व्यक्ति की मानसिक, नैतिक और शारीरिक आवश्यकताओं का उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक पारखी होता है। उदा० सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई के मामले। सार्वजनिक कल्याण की रक्षा तभी हो सकती है जब राज्य स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाली परिस्थितियों को दूर कर दे, खाद्य पदार्थो का सरकारी निरीक्षण हो और बेईमान और धोखेबाज व्यापारियों को सरकार की ओर से दंड दिया जाये। समाज का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यक्तियों की मूर्खता और नैतिक कुटिलता से स्वयं उन्हीं की रक्षा करें।

व्यक्तिवादियों का यह मानना है कि यदि हर मनुष्य को अपना हित पूरा करने की छूट दे दी जाये तो हर कोई सुखी होगा और समाज समृद्ध हो जायेगा। किन्तु यह बात तब सही हो सकती है जब हर व्यक्ति का हित दूसरे का हित हो और व्यक्तियों के

हित एक दूसरे के विपरीत न हो। पर अनुभवो से यह बात स्पष्ट होती है कि मनुष्यों के हित प्राय: एक दूसरे के विरोधी होते हैं अत: व्यक्तियों के हितों के टकराव से पैदा हुये. झगडों को तय करने और किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत दुर्बलता का लाभ अन्य कोई न उठा ले, इसे देखने के लिये भी राज्य की शक्ति की जरूरत होती है। राज्य द्वारा व्यक्ति की इच्छाओं और प्रेरणाओं का विवेकपूर्ण नियंत्रण सभी के अधिकारों को सुरक्षित और विस्तृत कर देता है।

स्पेंसर के तर्क के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ की जा सकती है। 'योग्यतम' (fittest) एक आपोक्षिक शब्द है जो आज योग्य या उपयुक्त है संभव है वही कल उपयुक्त न रहे। योग्यतम की विजय का मतलब यह नहीं है कि जरूर ही श्रेष्ठतम की विजय हो। योग्यतम से बच रहने का मतलब केवल यह हो सकता है जो बच रहता है, वो बच रहने के योग्य हो। यह तर्क उचित नहीं है क्योंकि यदि बच रहने की योग्यता की अकेली कसौटी केवल यह हो कि जो बच रहे वहीं योग्यतम है तो सेध काटकर मौज उड़ाने वाला चोर हमारी प्रशंसा का पात्र है और भूखों मरने वाला शिल्पी हमारी निंदा का पात्र हो जाता है।[3] जो बात नीची कोटि के जीवों के लिये सच हो, उसके लिए यह जरूरी नहीं है कि वह सृष्टि के श्रेष्टतम प्राणी मनुष्य पर भी लागू हो क्योंकि जब हम विकास की सीढ़ी पर चढ़ते - चढ़ते मनुष्य तक पहुँचते हैं तो एक आश्चर्यजनक नवीन अवस्था पर पहुँच जाते हैं। निम्न कोटि के प्राणी हाथ पर हाथ धरे अपने आपको प्रकृति का अनुयायी बन जाने देते हैं इसके विपरीत मनुष्य अपनी उच्चतर बुद्धि के बल से प्रकृति को ही अपनी जरूरतों के अनुकूल बना लेता है इसलिये उचित यह प्रतीत होता है कि प्रकृति को मनचाहे ढग से, कुछ थोड़े से लोगों को जीवित रखने का अवसर देने के बजाय मनुष्य अपने उच्चतर बुद्धि बल का प्रयोग कर यथासंभव अधिक से अधिक लोगों को बचने और जीवित रहने का मौका दे।

व्यक्तिवाद की एक अन्य भूल यह है, कि यह व्यक्ति की स्वतत्रता को इतना अधिक महत्व देता है कि अन्त तक उसका रूप स्वच्छन्दतावादी हो जाता है। परन्तु आत्मसंयम के अभाव में स्वतंत्रता मानव हितों का साधक नहीं अपितु बाधक बन जाती है। स्वेच्छाचारिता तो स्वतंत्रता को समाप्त तक कर सकती है।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त अर्थ के क्षेत्र में पूँजीवाद को महत्व देता है जबकि पूँजीवाद स्वत: एक सामाजिक बुराई है। यह शोषण और अत्याचार पर टिकी है। क्योंकि व्यक्तिवादी "माँग और पूर्ति" (Demand & supply) तथा खुली प्रतियोगिता के नियमों में विश्वास रखता है। परन्तु माँग और पूर्ति का सिद्धान्त उतना वैज्ञानिक नहीं है जितना कि उसे बताया जाता है। बहुधा उसमें गड़बड़ी पैदा होती रहती है। जहाँ तक खुली प्रतियोगिता की बात है वह अमल में बहुत कम दिखायी देती है। उसका परिणाम एकाधिकार (monopoly), ट्रस्ट और व्यवसायिक एका (trade combination) आदि होते हैं जो खुली प्रतियोगिता के उल्टे हैं।

समाजवादियों के अनुसार व्यक्तिवादियों द्वारा सामाजिक समझौते में मनुष्य के स्वभाव का किया गया चित्रण असत्य है। व्यक्तिवाद सामाजिक समझौता के सिद्धान्त का समर्थन करता है। इसके अनुसार मनुष्य को अवसरवादी सिद्ध किया गया है। समाज के निर्माण को मनुष्य नें सुविधा का अवसर माना। यह धारणा गलत है सत्य यही है कि मनुष्य स्वभावत: सामाजिक है।

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में अन्य बहुत सी कमियाँ हैं जैसे (1) ऐतिहासिक दृष्टि से इस सिद्धान्त की कोई ऐतिहासिक पृष्ठभूमि नहीं है। इससे समाज और राज्य की उत्पत्ति का सही आधार नहीं मिलता। यह परिकल्पना करना कि किसी विशेष समय में आदिकालीन मनुष्यों ने एकत्र होकर आपस में समझौता किया होगा

और समाज की रचना की होगी, इतिहास को गलत सिद्ध करना होगा। (2) इस सिद्धान्त में मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था के चित्रण के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि राज्य या समाज बनने के पहले सब कुछ प्राकृतिक था। बाद में राज्य या समाज कृत्रिम हुआ। राज्य को कृत्रिम कहना गलत है। सही बात यह है कि ''मनुष्य स्वयं प्रकृति का ही एक अंग है और राज्य मनुष्य की प्रकृति का सर्वोच्च विकास है। राज्य का विकास हुआ है, वह मशीन से ढलकर नहीं बना है।''

टी० एच० ग्रीन इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी को बताते हुये कहते हैं कि ''इसमें अधिकारों और कर्त्तव्यों की कल्पना समाज से दूर हटकर स्वतंत्र रूप में की गयी है।'' उनके अनुसार ऐसी प्राकृतिक अवस्था में जो सामाजिक अवस्था नहीं है, प्राकृतिक अधिकारों को अधिकार मानना एक आत्मविरोधी, आधारहीन बात है। **लास्की** ने व्यक्तिवादी सिद्धान्त के विरुद्ध अनेक दलीलें दी हैं— व्यक्तिवाद नैतिक दृष्टि से अपूर्ण है। लास्की कहते हैं कि व्यक्तिवाद का अर्थ है— क्षीण स्वास्थ्य, अविकसित मस्तिष्क, शोचनीय निवास स्थान और ऐसा काम जिसमें अधिकांश व्यक्तियों की कोई रूचि न हो।[4]

जेर्फसन- के अनुसार व्यक्तिवाद आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता की बलिवेदी पर सामाजिक और आर्थिक न्याय और समानता का बलिदान कर देता है।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की समीक्षा करते समय हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस सिद्धान्त ने व्यक्ति की सत्ता, स्वतंत्रता एवं उसके महत्व को प्रमुख रूप से प्रकट किया। न्याय और नैतिक दृष्टि से यह आवश्यक है कि व्यक्ति के विकास के लिये किसी प्रकार की बाधा न आये। चाहे जो भी दोष पूँजीवाद में हो, परन्तु यह व्यक्तिवादी

सिद्धान्त की ही देन है। मुक्त व्यापार का सिद्धान्त इसी के आधार पर स्वीकार किया गया। राजनीति के क्षेत्र में प्रजातंत्र का आधार यही व्यक्तिवाद ही है जिसमें स्वतत्रता, समता और व्यक्ति की महत्ता पर बल दिया गया है। शिक्षा का विकास भी व्यक्ति की स्वतंत्रता से ही संभव है। दूसरे शब्दों में किसी संस्कृति का मुक्त विकास व्यक्ति की स्वतंत्रता पर आधारित है।

इन सब अच्छाइयों के बावजूद यह सिद्धान्त इस भ्रमपूर्ण और गलत विचार धारा का पोषण करता है कि, जो वैयक्तिक दृष्टि से उचित है वह सामाजिक दृष्टि से भी समुचित है। कुछ व्यक्ति यह चाह सकते हैं कि वे अनियंत्रित स्वतंत्रता के द्वारा अपने लक्ष्यों की पूर्ति कर सकते हैं परन्तु इससे अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता बाधित हो सकती है। इस प्रकार का कृत्य सामाजिक दृष्टिकोण से वांछनीय नहीं है। समाज इसी परिप्रेक्ष्य में नियंत्रक का कार्य करता है। चूंकि यह सिद्धान्त समाज और राज्य को केवल नियंत्रण स्थापित करने वाली संस्था मानताहै अतः इसके भावात्मक कार्यो की उपेक्षा करता है जबकि समाज मनुष्यों के अन्दर बहुत सारी अच्छी आदतें विकसित करने में सहायक होता है तथा वह मनुष्यों के लक्ष्य में भी सहायक होता है। वस्तुतः समाज से असंपृक्त होकर व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता नहीं है उसके जीवन की पूर्णता समाज में ही प्राप्त होती है। वह अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास भी समाज में रहकर ही कर पाता है।

इस प्रकार व्यक्तिवाद व्यक्ति और समाज के बीच सुसंगत संबंध नहीं स्थापित कर पाता है बल्कि दूसरी ओर हमें पूँजीवाद जैसे सिद्धान्त की ओर अग्रसर करने के कारण सुसंगत नहीं है।

समाजवादी सिद्धान्त

व्यक्तिवादी सिद्धान्त के विपरीत समाजवादी सिद्धान्त व्यक्ति को पूर्णरूपेण समाज पर आधारित मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव अपने सर्वोत्तम लक्ष्यों की प्राप्ति समाज में ही रहकर कर सकता है। वस्तुत: समाज से अलग होकर व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता नहीं है उसके जीवन की पूर्णता समाज में ही प्राप्त होती है। समाज के प्रति समर्पित जीवन की उच्च जीवन है। समाज को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानने वाला यह सिद्धान्त समाज को आवश्यक बुराई नहीं अपितु एक निश्चित अच्छाई (Positive good) मानता है।

समाजवादी मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी मानता है और आदर्श के रूप में समानता (Equality) को अपना प्रमुख मूल्य स्वीकार करता है। अर्थात् समाजवाद यह मानता है कि मनुष्य के अंदर पायी जाने वाली जन्मजात शक्तियो के विकास के लिये समाज में समान अवसर मिलना चाहिये। समाजवाद समानता के मूल्य को स्वीकार करते हुये इस बात पर बल देता है कि समाज में मनुष्य द्वारा उत्पन्न की गयी समानताएँ नहीं होनी चाहिये। जाति, वंश, सम्पत्ति अथवा धर्म के आधार पर मनुष्य में विभेद नहीं होना चाहिये। समाजवाद समाज के कल्याण की बात करता है तथा सामाजिक अन्याय, पक्षपात तथा पूँजीवाद का विरोध करता है, यह 'कुछ' का नहीं 'सब' का हित चाहता है। ऐसा मान लेने पर यह आर्थिक असमानता का अथवा आर्थिक प्रतियोगिता, सामन्तवाद और भौतिक सम्पत्ति पर 'कुछ' लोगों के स्वामित्व पर आधारित सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का विरोध करता है। यह किसी भी प्रकार के वर्ग भेद को स्वीकार नहीं करता। समाजवाद प्रधानत: **समानता** को मानवतावाद का केन्द्र बिन्दु मानता है। मानवता और सामाजिक हित के परिप्रेक्ष्य में चिन्तन करने के कारण यह एक दर्शन, चिंतन धारा, सिद्धान्त और आदर्श के रूप में है।[5] **आर्शीवादम्** ने ठीक ही कहा है कि "समाजवाद को हम आदर्श कल्पना मान सकते हैं। यद्यपि समाजवाद के विरोधी उसे कोरी कल्पना मानते हैं। समाजवाद एक

दर्शन और एक धर्म है, वह जीवन की एक पद्धति है। यह एक सजीव, सक्रिय आंदोलन है जिसकी संभावनाओं की कोई सीमा नहीं है। समाजवाद एक बनी बनायी योजना या निश्चित व्यवस्था नहीं है, जो सदैव बदलने वाली परिस्थितयो से मेल न खा सके। समाजवाद समाज के कुछ लोगों के बजाय सब लोगों का हित चाहता है। यह राजनीतिक स्वातंत्रय संघर्ष की अगली मंजिल है। यह लोकतंत्र में अगला कदम है।[6]

समाजवाद को ठीक - ठीक समझने के लिये यह जरूरी है कि समाजवाद और साम्यवाद के अन्तर को अच्छी तरह लिया जाये। समाजवाद उत्पादन के साधनों पर (और कुछ लोगों के अनुसार वितरण पर भी) सामूहिक प्रभुत्व का समर्थन करता है परन्तु साम्यवाद सभी वस्तुओं पर सावर्जनिक प्रभुत्व के साथ ही सभी वस्तुओं के सार्वजनिक उपयोग का हिमायती है। साम्यवाद का आदर्श है, प्रत्येक मनुष्य को उसकी जरूरत के अनुसार पारिश्रमिक देना है परंतु समाजवाद का उद्देश्य हर मनुष्य को उसकी मेहनत और उसके सामाजिक रूप से उपयोगी श्रम के अनुसार पारिश्रमिक देना है। समाजवाद व्यक्तिगत आय और व्यक्तिगत संपत्ति को मानता है। परंतु साम्यवाद इनके औचित्य को नहीं मानता है। समाजवाद भावनात्मक है एवं इस का आधार विकासवादी है जबकि साम्यवाद क्रान्ति पर आधारित है। समाजवाद राज्य का मित्र हैं जबकि साम्यवाद आशा करता है कि धीरे-धीरे एक समय आयेगा जब राज्य समाप्त हो जायेगा।[7]

मुख्यतः समाजवाद का उद्देश्य उत्पादन के एक के बाद दूसरे साधनों का ज्यादा से ज्यादा राष्ट्रीयकरण करना है ताकि लोगों की आमदनी धीरे-धीरे बराबर होती चली जाये। समाजवाद व्यक्तिगत लाभ से मानव कल्याण को अधिक महत्व देता है तथा उत्पादन का उद्देश्य लाभ या शक्ति संचय न मानकर उपयोग मानता है। और कहता है कि आत्मविकास के साधन और अवसर सबको समान रूप से मिलने चाहिये।

समाजवाद का निर्देशक सिद्धान्त है— "केन्द्रीय लोकतांत्रिक अधिकार सत्ता के माध्यम से सम्पत्ति का आज की अपेक्षा अधिक न्यायपूर्ण वितरण और उस वितरण को पूरा करने के लिये अधिक उत्पादन।"

दूसरे शब्दों में, समाजवाद एक ऐसी व्यवस्था कायम करना चाहता है जिसका आधार युद्ध के बजाय भाईचारा हो और जिसमें रोजी के साधनों के लिये होड होने के बजाय सुनियोजित आपसी सहयोग से उत्पादन और वितरण हो। इस सहयोग का उद्देश्य उन सभी लोगों का हित होगा जो शारीरिक तथा मानसिक कार्य द्वारा उसमें भाग लेते हैं। इसलिये समाजवादी मानते हैं कि राज्य को कम से कम काम करने के बजाय अधिक से अधिक काम करने चाहिये। उनका विश्वास है कि यही एक तरीका है जिसके द्वारा अधिकांश मानव समाज के लिये सामाजिक न्याय संभव हो सकता है। उनका लक्ष्य एक ऐसा सहकारी समुदाय और राष्ट्र (Co-operative common wealth) कायम करना है जिसका उत्पादन के सभी साधनों पर नियंत्रण हो और जो सामूहिक वितरण का प्रबन्ध करें। समाजवाद में उत्पादन के साधनों और विनिमय पर सार्वजनिक प्रभुत्व होगा और वेतन आवश्यकता के अनुसार दिये जायेंगे। परोपकार तथा समाज के लिये उपयोगी बनने की इच्छा और कार्य में निस्वार्थ रूचि-जैसी प्रवृत्तियों पर बल देना, समाजवाद के आदर्श है।

इन सब अच्छाइयों के बावजूद समाजवाद में कुछ कमियाँ हैं जिसकी वजह से आलोचकों को कुछ कहने का मौका मिल गया है। ये आलोचनाऐं इस प्रकार हैं—

समाजवाद की सबसे बड़ी कमी यह बतायी जाती है कि समाजवाद का परिणाम एकसत्तावाद (authoritarianism) और बहुत बड़े पैमाने पर नौकरशाही का नियंत्रण है। इसमें व्यक्ति राज्य के अधीन हो जाता है। सरकार के अधीन सभी उद्योग

और कारखाने हो जाते हैं। सरकारी अधिकारी ही सब कुछ हो जाता है। सरकार एकमात्र सत्ता हो जाती है उसका आदेश व्यक्ति को मानना होगा। व्यक्ति की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। व्यक्तिगत व्यापार का स्थान सरकारी कारखाने और गोदाम ले लेंगे। हर व्यक्ति राज्य का नौकर हो जायेगा। हर वस्तु की खपत के आंकड़े सरकार के पास रहा करेंगे और इन आंकड़ों के आधार पर ही यह निश्चय किया जायेगा कि कौन वस्तु कितनी बनायी जाये या पैदा की जाये। सरकारी अधिकारी लोगों को उनका काम बतलायेंगे और हर एक को मिलने वाला पारिश्रमिक और अवकाश निश्चित करेंगे।

यद्यपि समाजवाद के विरुद्ध लगाये गये इस आरोप में काफी सत्यता है परन्तु आजकल लोकतंत्री समाजवाद की लोकप्रियता को देखते हुये यही प्रतीत होता है कि इसमें नौकरशाही और एकसत्तावाद का भय नहीं है क्योंकि यह जनता का समाजवाद है और जनता अपने लिये जो कुछ करती है, उससे केवल इतना ही साबित होता है कि सरकार किसी भी वर्ग विशेष का साधन न रहकर एक ऐसा साधन हो जाती है जिसका उपयोग जनता ने अपने हित में करना सीख लिया है।

समाजवाद के विरुद्ध यह भी आरोप लगाया जाता है कि समाजवाद वर्गयुद्ध का उपदेश देता है या वर्गयुद्ध को बढ़ावा देता है। यह स्वार्थमूलक, भौतिकवादी और उपयोगितावादी है। समाजवाद और कुछ नहीं, पूँजीपतियों तथा श्रमिकों अथवा सर्वहारा वर्ग का युद्ध है। सर्वहारा वर्ग पूँजीपति पर आक्रमण करता है और समाज युद्ध क्षेत्र बन जाता है।

इस आपत्ति के उत्तर में समाजवादी कहते हैं कि समाजवादी विचारधारा में वर्गयुद्ध को स्थान नहीं है। वर्गयुद्ध सामाजिक सिद्धान्त न होकर मार्क्सवादी सिद्धान्त है। यदि आज हम कुछ समाजवादियों के भाषण में वर्गयुद्ध का समर्थन पाते हैं तो इसे

भाषणकला और वोट पाने की चाल समझना चाहिये न कि एक निश्चित सिद्धान्त। इसके अलावा आधुनिक व्यक्तिवादी सामाजिक व्यवस्था में एक दूसरे प्रकार का वर्गवादी युद्ध चल रहा है- समृद्धिशाली वर्ग का सर्वहारा वर्ग पर आक्रमण या गरीबों पर अमीरों का हमला। सत्य तो यह है कि समाजवाद थोड़े से व्यक्तियों या किसी वर्ग विशेष का कल्याण न चाहकर पूरे समाज का, मानव जाति का कल्याण चाहता है अत: उस पर वर्गयुद्ध का आरोप लगाना उचित नहीं है।

समाजवाद के आलोचकों का यह भी कहना है कि समाजवाद में उत्पादन की प्रेरणा का अभाव है अर्थात् इसमें मनुष्यों को काम करने तथा उत्पादन की पर्याप्त प्रेरणा नहीं मिलती। इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि लोग अपने लिये या अपने स्वार्थ के लिये काम करते हैं, समाज के लिये बिना व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा पहल के कोई काम नहीं करता। (2) यह कि मनुष्य स्वभावत: काम नहीं करना चाहता।(3) कि समाजवादी व्यवस्था में लोग आलसी हो जायेंगे और उत्पादन का परिणाम घट जायेगा।

इस आपत्ति के उत्तर में यह पूछा जा सकता है कि इस प्रकार की शंका करने का क्या यह मतलब नहीं है कि हम मानव स्वभाव को बहुत ही गिरा हुआ मानते हैं? क्या यह जरूरी है कि मनुष्य जो कुछ भी करे वह स्वार्थ से ही प्रेरित होकर करे? जैसे जैसे मनुष्य में सामाजिक भावना बढ़ेगी वैसे वैसे क्या वह अपने निजी लाभ के लिये ही काम करने के बजाय किसी ऊँचे उद्देश्य से काम न करने लगेगा ? और वैसे भी यह परिलक्षित होता है कि जैसे जैसे हम अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों को अधिकाधिक महसूस करते जाते हैं, वैसे वैसे भौतिक पदार्थो की ही तरह अभौतिक पुरस्कार भी हमें काम करने के लिये प्रेरित करते हैं। **बर्ट्रेंड रसेल** का भी कहना है कि हममे जो मूलभावना संतुष्ट रहने के लिये बेचैन रहती है वह हमारी रचनात्मक प्रेरणा (creative

impulse) है।

कभी कभी यह आशंका की जाती है कि समाजवाद में कुल मिलाकर उत्पादन कम हो जायेगा। पहले तो यह सच नहीं है और यदि यह सच भी हो तो क्या जरूरी है कि उत्पादन के कम होने को हम बहुत बड़ा संकट माने ? हम हमेशा उत्पादन के ही विचार से क्यों परेशान रहे ? क्या कभी कभी न्यायपूर्ण वितरण पर भी ध्यान देना जरूरी नहीं है। भविष्य की समस्या उत्पादन की अपेक्षा वितरण की अधिक है। यह भी कहा जाता है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में हम यह दावा नहीं कर सकते कि जितना बड़ा उद्योग होगा उतनी ही अधिक किफायत से उसका संचालन होगा। इस संबंध में यह कहा जा सकता है कि कम से कम कुछ क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण की अपेक्षा स्थानीय नियंत्रण (municipalization) अधिक लाभदायक हो सकता है पर जिस प्रकार राज्य आज डाक और तार का प्रबंध करता है उसी प्रकार जैसे-जैसे राज्य का प्रबंध करने का अनुभव बढ़ता जायेगा वैसे वैसे राज्य क्रमशः वन, खान, जल, विद्युत, आदि का भी प्रबंध अपने हाथ में ले सकता है। समाजवाद के आलोचकों का ये भी कहना है कि समाजवाद लोगों को ऊँचे से नीचे गिराकर बराबर करने वाली व्यवस्था है। अर्थात् समाजवाद ऐसी व्यवस्था है, जिसमें गरीब लोगों के प्रति अधिक सहानुभूति है और गरीबों को संतुष्ट करने के लिये अमीरों को जो रहन सहन और आर्थिक दृष्टि से ऊंचे हैं, उन्हें भी खींचकर गरीबों के स्तर तक लाया जाता है। यह नहीं देखा जाता कि अमीर अपने उद्योग संघर्ष और परिश्रम से अमीर बने हुये है। समाजवादी व्यवस्था की यह धारणा गलत है कि सभी लोग समान रूप से गरीब और सुखी हों। सभी दरिद्र ही बने रहें। समानता का यह दृष्टिकोण समाजवाद के लिये क्यों महत्वपूर्ण है?

समाजवादी इस आलोचना के उत्तर में यह पूछ सकते हैं कि क्या समाजवाद का मतलब यह नहीं हो सकता कि लोगों को ऊपर उठाकर समान बनाया जाये।

समाजवाद का यह भी उद्देश्य है कि यह व्यक्ति की योग्यता, क्षमता और प्रतिभा को पहचानते हुये उसके अनुसार काम दे और दाम भी। इसके अलावा यह जरूरी नहीं है कि समाजवाद व्यक्ति की योग्यता और प्रतिभा को निरूत्साहित करे। समाजवाद इतना जरूर चाहता है कि इस योग्यता और प्रतिभा का उपयोग केवल व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये न होकर उच्चतर उद्देश्यों के लिये हो। मानव स्वभाव को बदल सकने के संबंध में समाजवाद बहुत ही आशावादी है और यह आशावादिता सभी महान धार्मिक और नैतिक व्यवस्थाओं में पायी जाती है।

समाजवाद की एक मनौवैज्ञानिक कमी यह भी है कि वह मनुष्य का नियंत्रण तथा संग्रह की मनोवृत्ति को महत्व नहीं देता। मनुष्य स्वभावत: संपत्ति के संग्रह और उस पर नियंत्रण पाने की इच्छा से किसी कार्य के लिये प्रेरित होता है। जिस काम में व्यक्ति की रूचि होती है। उसे करने में उसे असली संतोष मिलता है विशेषकर जब वह काम अपने मनपसंद ढंग से किया जाये। व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का विकास करने का सबसे अच्छा अवसर देती है। यह सम्पत्ति मूर्तिमान अमरत्व (concrete immorality) है। इसकी अवहेलना करके समाजवाद व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की अवहेलना करता है।

इस आपत्ति के उत्तर में समाजवादी यह कहते हैं कि यह तो ठीक है कि नियंत्रण और संग्रह मनुष्य की एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है परंतु इन आवश्यकताओं को अभिव्यक्त होना भी आवश्यक है। यदि मनुष्य सामाजिक कार्यो में अपनी अभिव्यक्ति को प्रदर्शित करे तो भी उसे संतोष का अनुभव हो सकता है फिर लोकतंत्री समाजवाद में व्यक्ति को अपनी आवश्यकता की सम्पत्ति रखने की छूट तो दी जाती है परन्तु उसके अधिकार नियंत्रित तथा सीमित है क्योंकि असीमित व अनियंत्रित रूप में सम्पत्ति रखने पर सामाजिक हितों को चोट पहुँचती है।

कुछ लोगों का यह भी मानना है कि समाजवाद क्रांति पर आधारित होने के कारण ग्रहणीय नहीं हो सकता क्योंकि समाजवाद वर्तमान समाज से संबंध विच्छेद करके ही अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है। यह विच्छेद हिंसात्मक होगा, जिससे कि समाज के अस्त-व्यस्त हो जाने के साथ ही अन्य अनेक दुष्परिणाम होते हैं।

परंतु समाजवादियों का कहना है कि आवश्यक नहीं है कि समाजवाद अपने लक्ष्य की प्राप्ति हिंसात्मक तरीके से ही करें। क्रान्ति की पद्धति समाजवाद में अपनायी जाती है लोकतंत्री समाजवाद में हिंसात्मक क्रान्ति को स्थान नहीं है।

समाजवादी सिद्धान्त के विस्तृत अध्ययन यह स्पष्ट होता है कि समाजवाद को एक दर्शन और जीवन पद्धति के रूप में ही स्वीकार करना अधिक उचित होगा। समाजवाद अपने मौलिक रूप में सामाजिक जीवन दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। इस दृष्टि से यह व्यक्ति और समाज दोनों का मार्ग दर्शन कराता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास समाज में ही संभव है और समाज का समुचित विकास भी व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास पर आधारित है। दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध है। समाजवाद व्यक्ति और समाज दोनों के आदर्शो का निरूपण करता है।

समाजवाद निश्चित रूप से व्यक्ति की स्वतंत्रता पर बल देता है न कि उसे समाप्त करता है। परन्तु यह स्वतंत्रता व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष की स्वतंत्रता न होकर वरन् मनुष्य मात्र की स्वतंत्रता है और यह भी तभी संभव है जब समाज के लोग सहयोग पूर्वक कार्य इसलिये करें, जिससे प्रत्येक को सम्पूर्ण और मुक्त जीवन की प्राप्ति के अवसर मिल सके। व्यक्तिवाद में मनुष्य और मनुष्य के बीच संबंधों में हस्तक्षेप

न करके ही स्वतंत्रता की प्राप्ति हो सकती है परन्तु समाजवाद में समाज के लोग जब तक सहयोग की भावना से काम नहीं करेंगे तब तक स्वतंत्रता और मुक्त जीवन संभव नहीं होगा।

समाजवाद समाजसेवा को व्यक्ति के आत्म विकास का आधार मानता है और मानता है कि इससे व्यक्ति उतना ही विकास कर सकता है, जितना वह एकाकी रहकर कर सकता है। व्यक्तिवाद भी व्यक्ति को महत्व देता है, परन्तु उसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व भौतिक शक्तियों के भार से दब जाता है। इस कमी को समाजवाद,व्यक्ति द्वारा समाज की सेवा और संगठन द्वारा पूरा कर देता है क्योंकि व्यक्ति की आत्मिक और आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति समाज में ही संभव है। वास्तव में व्यक्ति अपने में और केवल अपने से पूर्णता की प्राप्ति नहीं कर सकता। समाज से अलग व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है। संसार के अनेक प्रगतिशील देशों में, यह जो नयी सामाजिक भावना और विवेक हम देखते हैं उसका श्रेय कुछ अंशों में समाजवाद को ही है।

समाजवाद हमारा ध्यान इस सत्य की ओर ले जाता है कि व्यक्ति बहुधा उन परिस्थितियों का शिकार हो जाता है जिनके लिये न तो वह जिम्मेदार है और न जिन पर उसका कोई बस है।

पूँजीवाद या सामाजिक असमानता की समाप्ति ये समाजवाद की ही देन है। इसके लिये समाजवाद यह घोषणा करता है कि जब समाज में एकाधिकार और संघर्ष को समाप्त कर दिया जायेगा तो समाज के सभी लोग श्रमिक होंगे। फिर श्रमिकों का राज्य माना जायेगा। और ऐसे राज्य में लोग किसी अन्य के लिये काम नहीं करेंगे वरन समाज के लिये काम करके ये अनुभव करेंगे कि वे अपने लिये काम कर रहे हैं। वे अपेक्षाकृत प्रसन्नतापूर्वक और अच्छा काम करेंगे। क्योंकि वे जानते हैं कि उनके परिश्रम के फल से किसी पूँजीपति की लाभ-राशि में वृद्धि नहीं होगी, अपितु सब

लोगों को अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण, अधिक समृद्ध, और अधिक मुक्त जीवन बिताने का अवसर मिलेगा।[8]

समाजवाद ने मजदूरों में आत्म सम्मान की भावना पैदा की। अब मजदूर अपने आपको गुलाम या 'जीवित यंत्र' (living tools) नहीं समझते। अब वे न्यूनतम आर्थिक सुविधा की माँग बलपूर्वक पेश करते हैं, वेतन में वृद्धि, काम के घंटो में कमी कारखानों की हालत में सुधार आदि सभी बातें ट्रेड यूनियन, आंदोलन के द्वारा ही पूरी हुयी है। ट्रेड यूनियन आंदोलन को समाजवाद का आर्थिक पक्ष कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में समाजवादी चाहते हैं कि किसी भी व्यक्ति को आराम करने का मौका तब तक न मिले, जब तक वह काफी काम नहीं कर लेता और किसी के पास भी जरूरत से ज्यादा सम्पत्ति तब तक न होने पावे जब तक हर व्यक्ति की कम से कम जरूरतें पूरी न हो जायें। इन सब अच्छाइयों के बावजूद समाजवादी व्यवस्था में बहुत अधिक प्रशासकीय कठिनाइयाँ होने की संभावना है। यदि हम यह मान भी लें कि आज कुछ थोड़े राष्ट्रीय उद्योग बहुत ही कम खर्च से कुशलतापूर्वक चल रहे हैं तो भी इससे यह नतीजा नहीं निकलता कि सभी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का परिणाम भी इतना ही सुन्दर और प्रशंसनीय होगा। राज्य के कार्यों को बढ़ाते रहने का अर्थ यह होगा कि सरकार का शासन तंत्र अपने ही बोझ से दबकर टूट जायेगा।

साथ ही मनुष्य के नैतिक विकास की वर्तमान अवस्था में समाजवाद के फलस्वरूप भ्रष्टाचार, गुटबंदी, हिंसा और व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण और अवसर बहुत अधिक बढ़ जायेंगे।

समाजवाद से वैयक्तिक स्वतंत्रता पर रोक लग जायेगी। **स्पेंसर** का कहना है कि समाजवाद में समाज का हर सदस्य व्यक्ति के रूप में पूरे समाज का दास हो जायेगा। समाजवाद में व्यक्तित्व का दमन होगा, प्रतिभा कुंठित हो जायेगी और

नागरिक आलसी और अकर्मण्य हो जायेगें। व्यक्तिगत अन्तप्रेरणा और जिम्मेदारी की भावना नौकरशाही के कारण लोप हो जायेगी और सरकारी विभागो का बोलबाला हो जायेगा। उत्पादन में उत्तमता (Qualıty) और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से कमी हो जायेगी। इन सब कारणों से यह सिद्धान्त पूरी तरह से उपयुक्त नही है।

व्यक्तिवादी और समाजवादी सिद्धान्तों के विस्तृत सर्वेक्षण से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तिवाद में व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा तो होती है लेकिन उसमें सामाजिक सांमजस्य का अभाव है अर्थात् समाज की उपेक्षा की गयी है, जबकि समाज से पृथक व्यक्ति की सत्ता नहीं हो सकती। इसी प्रकार समाजवादी सिद्धान्त में 'सर्वजनहिताय और सर्वजनसुखाय' (अर्थात् यह सभी व्यक्तियों का हित और सुख चाहता है न कि कुछ व्यक्तियों का) को महत्व दिया गया है परन्तु व्यक्ति की स्वतत्रता का निषेध किया गया है। व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनों में ही महत्वपूर्ण सत्य हैं परन्तु दोनों ही सैद्धान्तिक और विचारमूलक है। जैसे विशुद्ध व्यक्तिवाद असंभव है वैसे ही विशुद्ध समाजवाद भी नामुमकिन है। दोनों ही सिद्धान्त वास्तव में परस्पर विरोधी और एकांगी है।

वास्तव में हमें एक ऐसी मान्यता की जरूरत है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के साथ-साथ ही समाज को भी एक संगठित इकाई के रूप में बनाये रखें। **बर्न्स** [9] का यह कहना बिल्कुल उचित है कि यदि हम किसी ऐसे आदर्श की कल्पना कर सकें। जो एक साथ ही व्यक्तिवादी और समाजवादी दोनों हो तो अधिकांश. मनुष्य उसे प्रभावपूर्ण आदर्श मानेंगे। यदि एक ओर हमारा झुकाव अपना स्वार्थ पूरा करने और अलग रहने की ओर होता तो दूसरी ओर हम अपने व्यक्तित्व को **'वृहत समाज'** (the gıeat socıety) के जटिल प्रवाह में खो देने की ओर भी झुकते हैं ......। व्यक्तिवादी का व्यक्तियो की विभिन्नता चाहना उचित है और समाजवादी का सार्वजनिक हित को

महत्व देना भी ठीक है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का पूर्ण विकास पूरे समाज के जीवन में अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में है।10

इस दृष्टिकोण से **समन्वयवादी** सिद्धान्त सर्वथा उर्पयुक्त है जो व्यक्तिवादी और समाजवादी जैसे परस्पर विरोधी और एकांगी मतों के बीच सामंजस्य स्थापित करते हुये सही रास्ता निकालता है। मेरी दृष्टि में भी समन्वयवाद ही सबसे उचित सिद्धान्त है।

समन्वयवाद - वह सिद्धान्त है जिसमें व्यक्ति प्रधान तथा समाज प्रधान दोनों सिद्धान्तों का समन्वय किया गया है। व्यक्तिवादी सिद्धान्त में जहाँ व्यक्ति को प्रधानता दी गयी है और समाजवादी सिद्धान्त में जहॉ समाज को महत्व दिया गया है वहीं इस सिद्धान्त में दोनों का समन्वय करते हुये न तो केवल व्यक्ति के हित को सर्वोपरि माना गया और न ही केवल समाज के हित को एक मात्र लक्ष्य माना गया है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार वैयक्तिक और सामाजिक हित में कोई भेद न मानने के कारण इसे **सामान्य शुभ** का सिद्धान्त भी कहा जाता है। इसे **आध्यात्मिक सिद्धान्त** इसलिये कहा गया है कि इसके अनुसार समाज में एक चेतन सत्ता समाविष्ट है। अत: जो भी व्यक्तिगत और सामाजिक क्रियाकलाप है वह व्यक्ति के आध्यात्मिक विचारों के परिणामस्वरूप है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में यथा सामाजिक, राजनीतिक जीवन में व्यक्ति की बौद्धिक, आत्मिक और मानसिक वृत्तियाँ ही क्रियाशील रहती है। अत: समाज की व्याख्या आत्मिक या आध्यात्मिक दृष्टिकोण से करने के कारंण यह सिद्धान्त आध्यात्मिक कहलाता है। जगत की विभिन्नता और अनेकता में एक ही परमसत्ता की अभिव्यक्ति मानने के कारण यह **अद्वैतवादी सिद्धान्त** भी कहलाता है। समाज दर्शन में अद्वैतवादी व्याख्या के अन्तर्गत समाज के मूल में एक चेतन तत्व विद्यमान है। मनुष्य एक आध्यात्मिक चेतन प्राणी है और इसी के परिणाम स्वरूप विभिन्न संस्थाओं और

व्यक्तियों के क्रियाकलाप नियंत्रित होते हैं। मनुष्य का सामाजिक और राजनैतिक जीवन उसकी आत्मिक, बौद्धिक और मानसिक वृत्तियों द्वारा संचालित होता है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत समाज को प्राकृतिक संस्था माना जाता है न कि कृत्रिम संस्था। समाज मनुष्य का ही व्यापक रूप है जिसमें मनुष्य अपनी नैतिक और आध्यात्मिक इच्छाओं व आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। व्यक्ति और समाज के हितों में न तो कोई टकराव है, न ही कोई आधार भूत भेद है, व्यक्ति की समष्टि ही पूर्णता की अभिव्यक्ति है। अद्वैतवाद इस धारणा का समर्थन करता है कि संयमित स्वतंत्रता ही वास्तविक अर्थ में स्वतंत्रता है न कि स्वेच्छाचारिता या स्वच्छंदता। मानव अपने सर्वोत्तम लक्ष्यों की प्राप्ति समाज में रहकर ही कर सकता है। समाज के प्रति समर्पित जीवन ही उच्च जीवन है। यह सिद्धान्त समाज को आवश्यक बुराई नहीं अपितु अच्छाई मानता है।

प्लेटो, अरस्तू, ग्रीन, ब्रैडले, बोसांके आदि इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। टी० एच० ग्रीन इसके मुख्य विचारक हैं।

आदर्शवादी या समन्वयवादियों का विश्वास है कि राज्य एक नैतिक संस्था है। **बोसांके** के अनुसार ''राज्य नैतिक विचार का मूर्त रूप है। (It ıs the embodiment of an ethıcal ıdea) समाज की अन्य महत्वपूर्ण संस्थाएँ, परिवार और धर्म संस्थान में राज्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। राज्य के बिना मानव व्यक्तित्व का पूरा विकास और उत्थान संभव नहीं है। व्यक्ति और राज्य के उद्देश्यों में कोई विरोध नहीं है। दोनों का उद्देश्य व्यक्तित्व की पूर्णता है।[11] यह उद्देश्य है :- ''आदर्श सुन्दरतम जीवन या मनुष्य की बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नति'' (Promotıon of the excellence of human souls) पर यह उद्देश्य इतना अधिक व्यक्तिगत और आंतरिक है कि इसका पूरा होना व्यक्ति की कोशिश पर ही निर्भर है। नैतिक सदगुण तो हरेक को स्वयं अपने में पैदा करने पड़ते हैं। नैतिक जीवन के लिये व्यक्तियों को स्वयं के भरोसे छोड़ने का

एक अन्य कारण यह भी है कि राज्य के साधन, शक्ति और दबाव इतने बाहरी है कि नैतिक शक्ति जैसी आन्तरिक अच्छाई लाने में वे सफल नहीं हो सकते।[12]

नैतिक दृष्टि से राज्य स्वयं अपने आप में उद्देश्य नहीं है। वह एक साधन है जिसके द्वारा लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। व्यक्ति ही नैतिक ईकाई है। राज्य व्यक्ति के लिये हैं। व्यक्ति राज्य के लिये नहीं। राज्य व्यक्ति का कार्य क्षेत्र है उसके नैतिक जीवन का माध्यम है।[13] राज्य का कार्य व्यक्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाना है ताकि अपना जीवन अच्छे से अच्छा बनाने का अवसर व्यक्ति को मिल सके। दूसरे शब्दों में राज्य का कर्त्तव्य व्यक्ति के श्रेष्ठतम जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को मिटाना (hındrance of hındrances) या समस्त सुविधाओं को सहूलियत से देना है। यदि राज्य इससे अधिक काम करता है तो वह व्यक्ति के नैतिक उद्देश्य को असफल करता है। परन्तु कानून की सीमा के भीतर आने वाले व्यवहार के मामलों में राज्य का कार्य क्षेत्र निषेधात्मक होने के कारण बाहरी कामों तक ही सीमित रहता है। परन्तु अभिप्रेरणाओं पर विचार करना राज्य के कार्य क्षेत्र के बाहर है। उदा०-राज्य माँ बाप को अपने बच्चों को स्कूल भेजने के लिये मजबूर कर सकता है पर राज्य इस कार्य के लिये कोई निश्चित अभिप्रेरणा नहीं लागू कर सकता। स्वाधीनता के बारे में ग्रीन का सिद्धान्त कांट का स्वतंत्र नैतिक इच्छा का सिद्धान्त है। जिसके बल पर मनुष्य हमेशा अपने आपको एक लक्ष्य मानने की इच्छा करता है।[14]

ग्रीन का विश्वास है कि राज्य द्वारा व्यक्तिगत सदस्यों के लिये आत्मसिद्धि का जीवन, संभव और सुगम बनाने का सबसे अच्छा साधन यह है कि राज्य व्यक्तियों के लिये निष्पक्ष और सब पर एक समान लागू होने वाले अधिकारों की व्यवस्था करें। उनका कहना है कि अधिकार मनुष्य के आंतरिक विकास के लिये जरूरी बाहरी परिस्थितियॉ हैं। हर विवेकशील व्यक्ति का सबसे बड़ा अधिकार यह है कि वह वैसा

बन सके जैसा मनुष्य को होना चाहिये, 'अपने अस्तित्व की विधि को पूरा करते हुये उसे जो कुछ होना है वह हो सके'।[15] दूसरे सभी अधिकार इसी अधिकार से प्राप्त होते हैं। अधिकारों के बिना मनुष्य अपने नैतिक लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता।[16]

ग्रीन का मानना है कि किसी भी व्यक्ति को कोई अधिकार तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि वह ऐसे समाज का सदस्य हो जो कि सार्वजनिक कल्याण को आदर्श कल्याण मानते हो, ऐसा कल्याण जो उनमें से हर व्यक्ति का कल्याण हो।[17]

ग्रीन के अनुसार राज्य का कार्य क्षेत्र बाहरी कार्यो तक सीमित रहने से राज्य के कार्यो से प्रत्यक्ष रूप से आध्यात्मिक लक्ष्य पूरे नहीं हो सकते। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राज्य निरर्थक है। (does not mean administrative nihilism)इसका मतलब केवल इतना है कि उच्चतर जीवन की प्राप्ति के लिये राज्य द्वारा कार्य किये जाने से पूर्व व्यक्तियों को स्वयं इसके लिये प्रयास करना चाहिये। अर्थात् राज्य के कार्य करने से पहले ही समाज को प्रयत्न करना चाहिये। अत: राज्य का कार्य प्रत्यक्ष रूप से सुन्दर जीवन का विकास करना न होकर, ऐसे जीवन की रक्षा करना, उसे उत्साहित करना और संगठित करना है। राज्य को शेष सब प्रकार की संस्थाओं से ऊँचा स्थान देने और उसे अन्य संस्थाओं को उचित स्थान पर कायम रखने का अधिकार देने का एक यह भी कारण है। हमारे राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक संगठन वे प्रयोगशालाएँ है जिनमें हम उत्तम जीवन पाने के लिये प्रयास करते रहते हैं। इन प्रारंभिक प्रयासों और किसी विशेष कार्य के पक्ष में जन भावना जगाने में सफल होने के बाद ही हम इस बात की आशा करते हैं कि राज्य हमारी सहायता करे, तभी हम सुन्दर जीवन पा सकते हैं। यदि राज्य जनता से पहले सक्रिय हो जाता है तो परिणाम स्वरूप राज्य समाज का अभिभावक सा बन जाता है और समाज राज्य के आदेश पर ही चलने लगता है इससे समाज की प्रयत्नशीलता को भारी क्षति पहुँचती है। समन्वय

सिद्धान्त की भी अनेक आलोचनाएं की गयी है और उनमें से कुछ ठीक भी है परन्तु मेरा यह विश्वास है कि आदर्शवाद इन आलोचनाओं के बावजूद अपने को कायम रख सकता है। ये आलोचनाएँ इस प्रकार है—

समन्वयवाद के आलोचकों का कहना है कि यह एक भावसूक्ष्म और आध्यात्मिक सिद्धान्त है और यह जीवन की वास्तविकताओं पर विचार नहीं करता तथा आदर्शवाद की धारणाएँ जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से बहुत दूर हैं। **विलियम जेम्स** के अनुसार आदर्शवादी सिद्धान्त एक ऐसा बुद्धिवादी दर्शन है जो अपने को धार्मिक कह सकता है पर जो ठोस सत्यो, सुखों और दुखों के सम्पर्क से बिल्कुल अलग रहता है। आदर्शवाद व्यक्ति को केवल एक विवेकशील प्राणी मानता है और मानव स्वभाव के दूसरे पहलुओं पर कोई ध्यान नहीं देता।

इसका उत्तर देते हुये आदर्शवादी कहते हैं कि यह सही है कि आदर्शवाद विचारों की शक्ति को बहुत ऊँचा स्थान देता है परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वह केवल भ्रम पर आधारित है। यह भी सत्य है कि आदर्शवादियों के सिद्धान्त का अधिकतर अंश, भाव सूक्ष्म और आध्यात्मिक है। वह व्यवहारिक तथ्यों को एक सैद्धान्तिक आधार देता है। राज्य का उद्देश्य निसंदेह सुन्दर जीवन या आत्माओं की श्रेष्ठता है परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि आदर्शवादी इस बात का समर्थन करता है कि राज्य प्रत्यक्ष रूप से सुन्दर जीवन की वृद्धि करें। और न इसका यह अर्थ है कि राज्य व्यक्ति की भौतिक जरूरतों की ओर से बिल्कुल ही आँखे मूँद ले। ग्रीन का सिद्धान्त इसका उदाहरण है। इस सिद्धान्त का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रीन सामाजिक जीवन की ठोस वास्तविकताओ के बिल्कुल निकट है।

अच्छे जीवन की बाधाओं का निराकरण करना (hındrance of

hındrances) यह ऐसा कथन है कि जिसमे सीधी साधी बातों को ही धुमा फिरा कर कहा गया है। राजकीय कार्य के इस सिद्धान्त में यह खतरा भी है कि उत्तम जीवन की बाधाओं के निराकरण करने का कदम राज्य बहुत देर में उठाये। यदि राज्य एक तटस्थ दर्शक मात्र बन जाये और हम लोगों को सुन्दर जीवन के लिये यथाशक्ति कोशिश करने को छोड़ दे तो संभव है कि वह इतना अकर्मण्य हो जायेगा कि उस हालत से उसे संभलना कठिन हो जायेगा।

इसका उत्तर देते हुये बोसांके कहते हैं कि राज्य एक उदासीन दर्शक नहीं है बल्कि वह उस चील की भांति है जो अपने छोटे-छोटे बच्चों पर अपने पखों का साया रखती है और घोंसले की रक्षा करती है और ऐसा करने में उसका उद्देश्य बच्चों को आत्मनिर्भरता की शिक्षा देना होता है न कि उनका विनाश होने देना।[18] जब तक कानून में वैधानिक तरीके से परिवर्तन किये जा सकते हैं तब तक यह सोचना गलत है कि राज्य हमारी पुकारों की अनदेखी करेगा।

समन्वयवाद के संबंध में एक अन्य आलोचना ये की जाती है कि यह राजकीय कार्य के संबंध में कानून और नैतिकता के बीच के भेद को बहुत बढ़ा चढ़ा कर कहता है। यह ठीक है कि नैतिकता का बहुत बड़ा भाग कानून की सीमा के बाहर ही रहता है पर नैतिक कर्त्तव्य काफी हद तक कानून द्वारा ही लागू किये जाते हैं इसे ठीक प्रकार से महसूस नहीं किया गया है। उदा०-दंड कानून का नैतिक प्रभाव क्षेत्र बहुत व्यापक है। सभी सभ्य राज्य जानवरों के प्रति निर्दयता की निंदा करते हैं और राज्य उसके लिये दंड की व्यवस्था करता है। इस मामले में राज्य प्रत्यक्ष रूप में और ठीक तरीके से नैतिकता लागू करने की कोशिश करता है। साथ ही साथ कानून का ऐसा क्षेत्र भी है जिसका प्रभाव नैतिकता पर इतना अप्रत्यक्ष होता है कि हम उसकी उपेक्षा कर सकते हैं।

गार्नर[19] का कहना है कि आदर्शवाद के विरुद्ध जो आलोचनाएँ की गयी हैं उनमें से अधिकांश के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे अनुचित, अत्युक्तिपूर्ण और इस सिद्धान्त के गलत समझने पर आधारित है। आदर्शवादियों की निम्नलिखित मान्यताएँ बिल्कुल सही और निर्दोष हैं— राज्य को सभी मानव संघों से उच्चतर मानना, सुन्दर जीवन के लिये राज्य को अनिवार्य मानना और इसलिये नागरिकों की निष्ठा का और अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये नागरिकों से बलिदान माँगने का राज्य को अधिकारी मानना, यह मानना कि राज्य में ही व्यक्ति अपने अस्तित्व या जीवन का उद्देश्य पूरी तरह पूरा कर सकता है और यह मानना कि बिना राज्य के मानव प्रगति और मानव सभ्यता असंभव है।

समन्वयवादी सिद्धान्त की उपयुर्क्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि व्यष्टि और समष्टि के बीच समन्वय करना यही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है और समन्वयकारी सिद्धान्त होने के कारण इसे सभी सिद्धान्तों से अच्छा कहा जा सकता है, क्योंकि समाज के स्वरूप और व्यक्ति तथा समाज के संबंध की समस्या यह संतोष जनक रूप से हल कर देता है, अतः मेरी दृष्टि में यह पूर्णतः उचित सिद्धान्त है। मुख्यतः इस सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ और मान्यताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं।

(1) समाज आत्म चेतना से युक्त स्वतंत्र आत्माओं का सगठन है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य का बुद्धियुक्त उच्च आदर्श आत्मा सामाजिक है।

(2) आदर्श आत्मा का प्रत्यक्ष केवल समाज के माध्यम से संभव है। सामाजिक 'मैं' ही वास्तविक 'मैं' है। प्रत्येक व्यक्ति का समाज से संबंध है।

(3) समाज आध्यात्मिक एकता या संगठन है। यह संगठन तभी दृढ़ होगा जब सामान्य हित की चेतना से युक्त स्वतंत्र आत्म चेतन युक्त प्राणी होंगे।

(4) व्यक्तिगत हित समाज के सामान्य शुभ में सम्मिलित रहते हैं। संपूर्ण आत्मा (व्यक्तिगत और सामाजिक) का हित ही परम शुभ है। इसकी प्राप्ति पूर्ण भौतिक सुखों या वासना की पूर्ति से नहीं की जा सकती। इसको केवल निम्न आत्मा को उच्च आत्मा के अधीन करके ही पाया जाता है।

(5) अद्वैतवादी सिद्धान्त के अनुसार यह जगत अद्वैत तत्व का प्रगटित रूप है। यह तत्व चेतन है। इसकी प्राप्ति अद्वैत या आध्यात्मिक चिन्तन द्वारा ही हो सकती है।

(6) तात्विक दृष्टि से व्यक्ति और समाज का द्वैत संभव नहीं है। समाज और कुछ नहीं, चेतन आत्मा युक्त व्यक्ति का व्यापक रूप है। समाज से व्यक्ति की नैतिक और आध्यात्मिक वृत्ति की पूर्ति होती है। व्यक्ति हित और समाज हित में विरोध नहीं है।

(7) इस मत के अनुसार आदर्श और उच्च जीवन वह है जो समाज को समर्पित है। समाज से व्यक्ति की नैतिक और आध्यात्मिक वृत्ति की पूर्ति होती है। परन्तु कुछ विचारकों जैसे **ग्रीन** की दृष्टि में समाज साध्य नहीं है वरन मानव का साधन है। व्यक्ति और समाज के हित में एकता है।

आधुनिक प्रत्ययवादी – काण्ट, हेगेल आदि भी समाज को साध्य एवं व्यक्ति को साधन मानते हैं। समाज के अधीन रहकर मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति करता है। समाज से पृथक उसकी कोई सत्ता नहीं होती है। **कांट** ने कहा है कि समाज एक अलौकिक सत्ता है उसकी आशा का पालन किया जाना चाहिये, उसका विरोध नहीं किया जा सकता। समाज द्वारा बनाये गये नियमों की आलोचना भी नहीं की जा सकती है। इस प्रकार कांट के बाद ग्रीन, ब्रैडले एवं बोसांके समाज के साथ व्यक्ति को भी महत्व प्रदान करते हैं। ग्रीन ने तो यहाँ तक कहा है कि समाज नैसर्गिक संस्था है यह

साध्य नहीं है अपितु अच्छे मानव जीवन का साधन मात्र है। सामाज को ग्रीन नैतिक संस्था मानते हैं। उनके अनुसार भी समाज और व्यक्ति के हितों में कोई विरोध नहीं है। समाज द्वारा उपलब्ध कराये गये अनुकूल वातावरण में ही मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है तथा वह अपने लक्ष्यों की पूर्ति कर पाता है। ब्रैडले एवं बोसांके भी समाज को मनुष्य की वास्तविक इच्छा का प्रतीक मानते हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त समाज और व्यक्ति के बीच सुन्दर समन्वयात्मक सबंध स्थापित करता है।

आदर्शवादी इन सब विशेषताओं के कारण ही हमारे सामने एक ऐसा लक्ष्य रखते है जहाँ तक पहुचने के लिये हमें कोशिश करनी चाहिये, और यह उचित ही है। यदि यह आदर्श केवल एक काल्पनिक स्वर्ग या किसी एक व्यक्ति की कल्पना मात्र है, तो व्यर्थ है। पर जिस हद तक यह आदर्श मानव स्वभाव और सामाजिक जीवन की व्यवहारिक परिस्थितियों के संबंध में, हमारे ज्ञान और अनुभव पर आधारित है उस हद तक यह महत्वपूर्ण है। आदर्शवादियों ने जो आदर्श उपस्थित किया है वह पूरा किया जा सकता है। वह केवल स्वप्न मात्र नहीं है। आदर्शवादियों का यह दावा भी बिल्कुल ठीक है कि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में उच्चतम नैतिक सिद्धान्तों का उपयोग किये बिना किसी प्रकार भी राजनीतिक उन्नति संभव नहीं है।

आदर्शवाद समाज की शारीरिक एकता के द्वारा स्पष्ट करता है कि किस प्रकार राज्य समाज को एक सूत्र में बाँधे रहता है। अकेले में व्यक्ति की उन्नति असंभव है। व्यक्ति का सच्चा कल्याण समाज के सामान्य जीवन में अपना उचित स्थान पाने में है।

आदर्शवादी स्वयं अर्जित कल्याण को ही सर्वोच्च कल्याण मानते हैं। यदि राज्य का कोई कार्य स्वत: प्रेरक नैतिक कार्यो में बाधा डालता है, तो राज्य का वह कार्य निन्दनीय है। सुव्यवस्थित समाज में व्यक्ति के प्रयास, उद्यम, और मौलिकता को पूरा पूरा अवसर मिलना चाहिये।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आदर्शवादियों में ग्रीन सबसे महत्वपूर्ण दार्शनिक है। यद्यपि उनकी कुछ बातों में मतैक्य है पर सामान्य रूप से उनके सिद्धान्त आज भी खरे हैं। संभव है, पूँजीमूलक सम्पत्ति का समर्थन, राज्य द्वारा अनर्जित वृद्धि का अपने काम में लाये जाने का विरोध आदि सिद्धान्तों पर उनका जोर देना हमें उचित न प्रतीत होता हो। पर किन्ही विशेष परिस्थितियों का जो विश्लेषण उन्होंने किया उन सबकी अपेक्षा वे सिद्धान्त अधिक महत्वपूर्ण हैं जिनकी उन्होने स्थापना की। यदि उनके सिद्धान्त सत्य है तो हर युग अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप उनकी प्रगतिशील व्याख्या कर सकता है। व्यक्ति के महत्व पर उनका दृढ़ विश्वास, व्यक्ति की स्वाधीनता पर उनकी गहरी आस्था, उनका यह विश्वास कि व्यक्ति का कल्याण सामाजिक कल्याण का एक अभिन्न अंग है, राज्य को रहस्यपूर्ण तरीके से ऊँचे सिंहासन पर बैठाने की अस्वीकृति, अधिकारों पर जोर देना यह सब आज भी उतने ही मान्य है जितने कि (1879-80) पहले थे।

मेरी दृष्टि से आदर्शवाद और ग्रीन के विचार सर्वथा उपयुक्त है। समन्वयकारी सिद्धान्त होने के कारण भी इसे अन्य सभी सिद्धान्तों से अच्छा कहा जा सकता है क्योंकि यह सिद्धान्त व्यक्ति तथा समाज के संबंध की मेरी समस्या का संतोषजनक रूप से हल कर देता है। अत: यह पूर्णवादी सिद्धान्त है तथा अद्वैतवादी चिन्तन पर आधारित होने के कारण यह वास्तविक जीवन को चित्रित करता है। समष्टि से व्यष्टि को पाना अर्थात विश्वात्मा को समर्पित करके सबके हित में लीन होकर जीना ही वास्तविक जीवन है।इसी में जीवन की सार्थकता है। आत्मत्याग ही आत्मलाभ है। अन्य मत एकांगी है यह मत पूर्ण है क्योंकि यह व्यक्ति और समाज दोनों को एक दूसरे पर निर्भर मानता है। मनुष्य अपने सर्वोत्तम लक्ष्यों की प्राप्ति समाज में रहकर ही कर सकता है। समाज के प्रति समर्पित जीवन ही उच्च है। समाज द्वारा उपलब्ध कराये गये

अनुकूल वातावरण में ही मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता है। परन्तु क्या हम शुद्ध स्वार्थ या शुद्ध परमार्थ की कल्पना कर सकते हैं ? अतः समन्वय की दृष्टि से इस मत को उचित कहा जा सकता है इस प्रकार यह सिद्धान्त समाज और व्यक्ति के बीच सुन्दर समन्वयात्मक संबंध स्थापित करता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1 J S Mill- " On Liberty" - ch-3

2 R N Gilchrist - "Principle of Political Science" - P 397-398

3 LEACOCK, STEPHEN- "Element of Political Science"- P 346

4 LASKI, H J - "A Grammar of Politics"- P- 191

5. गंगादत्त तिवारी – "आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का इतिहास"– पृ०–227

6. ए०डी० आर्शीवादम् – "राजनीति विज्ञान" –पृ०–203

7. वही – 204

8. जोड – "आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका"–अनुवादक अंबादत्त पंत आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1957 – पृ०–50

9. BURNS, C.D - "Political Ideas" – P. 275

10 आर्शीवादम् – "राजनीतिक विज्ञान" – पृ०–178

11. BOSANQUET, B.-" The philosophical theory of state"- P.-36

12. आर्शीवादम् –-"राजनीति विज्ञान" – पृ०–179

13. BOSANQUET, B. - "The philosophical theory of state"- P 36

14 BARKER, ERNEST- "Political thought in England . SPencer to present day" - P-32

15 GREEN, T.H - "Lecture's on the principle of political obligation - P -17

16 Ibid

17 Ibid

18 BOSANQUET, B - "Deuteronomy"- Ch-33, Verse - II

19 GARNER, J W - "Political Science & Government".

चतुर्थ अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

भारतीय और पाश्चात्य जगत में व्यक्ति और समाज के सबंध की समस्या से जुड़े हुये विभिन्न सिद्धान्तों का विस्तृत और गहन अध्ययन करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचती हूँ कि समन्वयवादी दृष्टिकोण ही अन्य दृष्टिकोणों की तुलना में अधिक तार्किक और व्यवहारिक है, क्योंकि यह सिद्धान्त व्यक्ति और समाज के बीच सुन्दर समन्वय स्थापित करता है। चूँकि समाज के बिना मानव व्यक्तित्व का पूरा विकास और उत्थान संभव नहीं है और समाज मनुष्य का ही व्यापक रूप है। इसलिये यह सिद्धान्त व्यक्ति और समाज दोनों को एक दूसरे पर निर्भर मानता है, अतः यह मत पूर्ण है।

व्यक्ति और समाज के संबंध में अन्य दोनों मत एकांगी है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण व्यक्ति को एक स्वतंत्र इकाई स्वीकार करते हुये यह मानता है कि मनुष्य को अपना अस्तित्व स्थापित करने के लिये समाज की आवश्यकता नहीं होती। समाज की स्थापना व्यक्तियों द्वारा अपनी इच्छाओं, अभिलाषाओं और अपेक्षाओं की पूर्ति के लिये की जाती है। समाज तो साधन मात्र है। समाज को व्यक्ति के क्रियाकलापों में आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। जिससे व्यक्ति निर्बाध रूप से अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने में सक्षम हो सके।

यह तो ठीक है कि व्यक्तिवादी सिद्धान्त में तात्कालिक उपयोगिता पायी जाती थी, पर वर्तमान परिस्थितियों में यह उपयोगिता समाप्त हो गयी है क्योंकि यह सिद्धान्त मनुष्य के सामाजिक जीवन के एक पक्ष पर इतना अधिक महत्व देता है कि दूसरा पक्ष बिल्कुल ही भुला दिया जाता है। यद्यपि इस सिद्धान्त ने व्यक्ति की सत्ता, स्वतंत्रता एवं उसके महत्व को प्रमुख रूप से प्रकट किया। चाहे जो भी दोष हो पूँजीवाद में परन्तु

वह भी व्यक्तिवाद की ही देन है। मुक्त व्यापार, राजनीति के क्षेत्र मे प्रजातत्रिक आधार और शिक्षा का विकास भी इसी के द्वारा संभव है।

इन सब अच्छाइयों के बावजूद इस सिद्धान्त में कुछ कमियाँ है। कुछ व्यक्ति यह चाह सकते हैं कि वे अनियंत्रित स्वतंत्रता के द्वारा अपने लक्ष्यों की पूर्ति कर सकते हैं परन्तु इससे अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता बाधित हो सकती है। समाज इसी परिप्रेक्ष्य में नियंत्रक का कार्य करता है। वस्तुतः समाज से अलग होकर व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। उसके जीवन की पूर्णता समाज में ही संभव है वह अपने व्यक्तित्व का सर्वागीण विकास भी समाज में रहकर ही कर पाता है। इस प्रकार व्यक्तिवाद व्यक्ति और समाज के बीच सुसंगत संबंध स्थापित न कर पाने एवं पूँजीवाद जैसे सिद्धान्त की ओर अग्रसर करने के कारण उचित नहीं है।

दूसरी और समाजवादी सिद्धान्त व्यक्ति को पूर्णरूपेण समाज पर आधारित मानते हुये समाज को एक आवश्यक बुराई नहीं अपितु एक निश्चित अच्छाई मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज के प्रति समर्पित जीवन ही उच्च जीवन है। तथा व्यक्ति अपने सर्वोत्तम लक्ष्यों की प्राप्ति समाज में ही रहकर कर सकता है। दूसरे शब्दों में समाजवाद यह मानता है कि मनुष्य के अंदर पायी जाने जन्मजात शक्तियों के विकास के लिये समाज में समान अवसर मिलना चाहिये तथा समाज में मनुष्य द्वारा उत्पन्न की गयी समानताएँ नहीं होनी चाहिये। यह 'कुछ' का नहीं 'सब' का हित चाहता है। समाजवादी मानते हैं कि राज्य को कम से काम करने के बजाय अधिक से अधिक काम करने चाहिये क्योंकि उनका मानना है कि यही एक तरीका है जिसके द्वारा अधिकांश मानव समाज के लिये सामाजिक न्याय संभव हो सकता है। समाजवाद अपने मौलिक रूप में एक सामाजिक दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण व्यक्ति और समाज दोनों का मार्गदर्शन कराता है। पूँजीवाद और सामाजिक असमानता की

समाप्ति, समाज सेवा को व्यक्ति के आत्मविश्वास का आधार मानना, मजदूरों में आत्म सम्मान की भावना पैदा करना आदि समाजवाद की ही देन है।

परन्तु समाजवाद की सबसे बड़ी कमी एकसत्तावाद (Authoritarianism) और बहुत बड़े पैमाने पर नौकरशाही का नियंत्रण है। इससे बहुत अधिक प्रशासकीय कठिनाइयाँ होने की संभावना है। साथ ही मनुष्य के नैतिक जीवन की वर्तमान अवस्था में समाजवाद के फलस्वरूप भ्रष्टाचार, गुटबंदी, हिंसा और व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण और अवसर बहुत अधिक बढ़ जायेंगे। समाजवाद में व्यक्तित्व का दमन होगा और प्रतिभा कुंठित हो जायेगी। इन सब कारणों से यह सिद्धान्त पूरी तरह उपयुक्त नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्तिवाद में व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा तो होती है परन्तु सामाजिक सामंजस्य का अभाव है। दूसरी ओर समाजवाद ''सर्वजनहिताय और सर्वजन सुखाय'' को महत्व देता है परन्तु व्यक्ति की स्वन्त्रता का निषेध करता है। अतः दोनों ही सिद्धान्त एकांगी, परस्पर विरोधी और व्याघाती है। जैसे विशुद्ध व्यक्तिवाद असंभव है वैसे ही विशुद्ध समाजवाद भी संभव नहीं हैं।

अतः एक ऐसी मान्यता ही आवश्यकता प्रतीत हुयी जो कि व्यक्ति की स्वतंत्रता को बनाए रखने के साथ-साथ समाज को भी एक संगठित इकाई के रूप में बनाये रखें अर्थात् हमें इन दोनों के बीच का मार्ग चुनना है। इस दृष्टि से समन्वयवाद सर्वथा निर्दोष मध्यम मार्गी सिद्धान्त है, इसलिये मैंने इसे स्वीकार किया है।

समन्वयवाद में व्यक्तिप्रधान और समाजप्रधान दोनों सिद्धान्तों का समन्वय करते हुये न तो केवल व्यक्ति के हित को सर्वोपरि माना गया है और न ही केवल समाज के हित को एक मात्र लक्ष्य माना गया है। समन्वयवाद का उद्देश्य है—''आदर्श सुन्दरतम जीवन या मनुष्य की बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नति''

समन्वयवादियों का विश्वास है कि राज्य एक नैतिक संस्था है। **बोसांके** के अनुसार राज्य नैतिक विचार का मूर्त रूप है। राज्य के बिना मानव व्यक्तित्व का पूरा विकास और उत्थान संभव नहीं है। व्यक्ति और राज्य के उद्देश्यों में कोई विरोध नहीं है। दोनों का उद्देश्य व्यक्तित्व की पूर्णता है। राज्य का कार्य व्यक्ति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाना है ताकि व्यक्ति को अपना जीवन अच्छे से अच्छा बनाने का अवसर मिल सके। इस मत के अनुसार आदर्श और उच्च जीवन वह है जो समाज को समर्पित है। समाज और कुछ नहीं चेतन आत्मा युक्त व्यक्ति का व्यापक रूप है। समाज से व्यक्ति की नैतिक और आध्यात्मिक वृत्ति की पूर्ति होती है। व्यक्ति हित और समाज हित में कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि समन्वयवादी दृष्टिकोण अन्य की तुलना में अधिक तार्किक और व्यवहारिक है। इसीलिये मैंने इसे स्वीकार किया है। परन्तु मध्यम प्रतिपदा एकांगी सिद्धान्तों की तुलना में क्यों अच्छी है ? और मैने इसे क्यों स्वीकार किया है ? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। परंतु मैने इस सिद्धान्त को निराधार ही स्वीकार नहीं किया है। अतः इसकी तार्किकता को सिद्ध करने के लिये मैं निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करती हूँ।

मेरे इस सिद्धान्त को स्वीकार करने का प्रमुख कारण यह है कि महात्माबुद्ध, अरस्तू लाइबनित्ज आदि ने भी इस मध्यम मार्ग को स्वीकार कर आत्मा, ईश्वर और जगत के मध्य सामंजस्य स्थापित किया था।

बुद्ध मानते हैं कि हर घटना का कुछ न कुछ कारण होता है। कोई भी घटना अकारण नहीं होती। कारण परिणाम का चक्र, धर्मचक्र पूरे संसार में व्याप्त है। इस कार्यकारण श्रृंखला पर ही सारा संसार आधारित है। हम भी इसी में आ जाते हैं। इस कारण स्थायी और स्थिर आत्मा का अस्तित्व मानना एक बड़ी भूल है।

बुद्ध के अनुसार उनका मार्ग दो एकांगी मतों के मध्य का मार्ग है।[1] एक ओर अगर उच्छेदवाद है तो दूसरी ओर शाश्वत्वाद। उच्छेदवाद के अनुसार वस्तुओ के नष्ट हो जाने पर कुछ भी नहीं रहता परन्तु परिणाम सत्य रहता है जबकि शाश्वत्वाद के अनुसार तत्व नित्य, अनादि एवं स्वयंभू है। उसका विनाश नहीं होता। बुद्ध के विचारो में ये दोनों मत एकागी और गलत है। सही बात यह है कि परिणाम कारण से न पूर्ण रूप से समान होता है न पूर्ण रूप से नया। वह कुछ हद तक कारण के जैसा होता है और कुछ हद तक कारण से भिन्न।

बीज से लेकर वृक्ष की अवस्था (और आगे भी) कारण-परिणाम की एक अविरत श्रृंखला है।इस श्रृंखला की हर कड़ी में परिणाम कारण के जैसा होते हुए भी पूर्ण रूप से कारण के जैसा नहीं होता। हर कड़ी में कुछ नयापन आता रहता है। परिवर्तन की यह श्रृंखला अखंड है। प्रत्येक चीज की उत्पत्ति, स्थिति, जरा, और नाश ये अवस्थायें होती हैं। नाश होने से पहले आने वाली चीज पर जाने वाली अपनी छाप, अपना संस्कार छोड़ जाती है। इस तरह संस्कार के माध्यम से पुरानी चीजें जिन्दा रहती है। पुत्र के माध्यम से पिता जिन्दा रहता है। यही बात हर जगह है। यही शाश्वत और उच्छेद के मध्य का सिद्धान्त **प्रतीत्यसमुत्पाद** है। यह मध्यम मार्ग अरस्तू के **स्वर्णिम माध्य** (golden mean) तथा **वेदान्त के समन्वय** की भाँति, सत और असत्, शून्य और अशून्य, भाव और अभाव, पुण्य और पाप आदि समस्त छंदों में अर्थात् पक्ष और विपक्ष दोनों में सूत्र रूप से, अर्न्तयामी रूप से व्याप्त रहकर उनमें जीवन और ज्योति देता हुआ, उनका आधार और अधिष्ठान बनता हुआ भी उनसे विलक्षण और परे है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यममार्गी बुद्ध प्रणीत उपदेशों का निष्कर्ष यही है कि पूरे ब्रह्माण्ड में कोई भी भौतिक या अभौतिक तत्व शाश्वत नहीं है, और न व्यक्ति

के अन्दर स्थायी कूटस्थ आत्मा है, न विश्व के पीछे परमात्मन् । वर्तमान विज्ञान भी इन निष्कर्षों का समर्थन ही करता है। अपने इन्हीं निष्कर्षों के कारण बुद्ध और उनकी शिक्षाओं का प्रभाव केवल भारत ही नहीं बल्कि विश्व के अनेक देशों पर कई शताब्दियों तक रहा है और रहेगा।

दूसका तर्क है अरस्तू का। संसार के ज्ञान-विज्ञान को अरस्तू की एक अतुलनीय देन यह है कि उसने नीतिशास्त्र और राजनीति को, उनके अन्तःसंबध को कायम रखते हुये भी अलग-अलग कर दिया। यह इस बात से स्पष्ट होता है कि अरस्तू ने वास्तविक राज्य के संबंध में आदर्श राज्य से पृथक विचार दिया। अरस्तू के अनुसार सर्वश्रेष्ठ व्यवहारिक औसत राज्य है। यह राज्य लोकतंत्र तथा धनिकतत्र की उन अतियो को छोड़ देता है जो अनुभव से भयावह सिद्ध हुयी है। अरस्तू के इस सर्वश्रेष्ठ व्यवहारिक राज्य की प्रमुख विशेषता यह है कि यह मिश्रित संविधान है। जिसमें धनिकतन्त्र तथा लोकतंत्र के तत्वों का सर्वश्रेष्ठ रीति से समन्वय है। इसकी सामाजिक बुनियाद एक विशाल मध्यमवर्ग है जो ऐसे लोगों से मिलकर बना है जो न तो बहुत अमीर हैं और न बहुत गरीब।[3]

मध्यम वर्ग राज्य का सिद्धान्त संतुलन है। यह संतुलन उन दो तत्वो के बीच है जिनका प्रत्येक राजनैतिक पद्धति में थोड़ा बहुत महत्व होता है। ये तत्व शक्ति संबधी उन दावो के आधार पर उत्पन्न होते हैं जिनका अरस्तू ने विवेचन किया है। अरस्तू उन्हे दावे कम शक्तियाँ अधिक मानते हुये इन्हें परिमाण और गुण कहता है। पहले के अन्तर्गत सम्पत्ति, जन्म, स्थिति, शिक्षा आदि के राजनैतिक प्रभाव आते हैं तो दूसरा संख्याओं का वजन है। पहले तत्व के प्रधान होने पर धनिकतंत्र और दूसरे के प्रधान होने पर लोकतंत्र बन जाता है स्थिरता उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है कि दोनों तत्वों को महत्व देते हुये दोनों के बीच संतुलन स्थापित करें। यह संतुलन मध्यम वर्ग में

ही पाया जाता है इसलिये मध्यमवर्गीय राज्य सबसे अधिक सुरक्षित और सबसे अधिक कानूननिष्ठ व्यवहारिक राज्य होता है यही अरस्तू का **स्वर्णिम माध्य** (golden mean) है।[4] इस प्रकार अरस्तू भी संतुलन को महत्व देते हैं। तीसरा तर्क है **लाइबनित्ज** का। लाइबनित्ज के दर्शन का सम्पूर्ण प्रयास सामान्य अनुभव को बौद्धिक चिन्तन से समन्वित करने का प्रयास था। लाइबनित्ज मध्यममार्ग अपनाकर अपने शुद्ध सापेक्षतावाद से भेदो को मात्र दृष्टिकोणों में परिणत कर देते हैं। अन्तिम और निमित्त कारणों का तथा बीच की सभी संभव स्थितियों का उसके दर्शन में सहअस्तित्व है। ईश्वर जो सर्वोच्च चिद बिंदु है, अपने शुद्ध बोध में विश्व की अंतिम् संभावनाओं को देख रहा है और उसके शुद्ध संकल्प में विश्व की अन्तिम अभिव्यक्ति विद्यमान है। रचित चिदबिंदु अपने अपने दृष्टिकोण से उसी के प्रत्यक्षों और संकल्पों को प्रतिबिन्बित करते हैं। वे सभी प्रतिबिम्ब उस एक सत्य के स्पष्ट रूप हैं।

लाइबनित्ज अपूर्णता और पूर्णता में कोई वास्तविक भेद नहीं मानते हैं। ईश्वर के शुद्ध प्रत्यक्ष पूर्णरूप से स्पष्ट एवं विश्लिष्ट है। शेष जगत के प्रत्यक्षों पर धूप-छाँह के विभिन्न अनुपात है इसलिये, वे न केवल प्रागनुभवीय हो सकते हैं और न केवल अनुभवीय हो सकते हैं। लाइबनित्ज मानते हैं कि मानवीय प्रत्यक्ष संश्लिष्ट और विशिष्ट दोनों है किसी एक नियम से हमारा काम नहीं चल सकता। हमें विज्ञान और दर्शन दोनों की एक साथ आवश्यकता है।[5]

चिद्बिंदुओं के माध्यम से विश्व में आन्तिरिक एकता लाने के लिये उसने सभी चिदबिंदुओं में प्रत्यक्ष का आरोप किया। लाइबनित्ज के अनुसार कोई भी चिदबिंदु निर्जीव नही है, प्रत्यक्ष शक्ति से शून्य नहीं है। वह अपने अपने विकास स्तर के अनुसार एक विशिष्ट दृष्टिकोण से सम्पूर्ण विश्व को प्रतिबिम्बित करता है।

लाइबनित्ज ने चिदबिंदुओं को तीन वर्गो में विभाजित किया है— अचेतन, चेतन और आत्मचेतन। मनुष्य पशुओं से, पशु वनस्पति से, वनस्पतियॉ निर्जीव प्रतीत होने वाले पिण्डों से संबद्ध है जो अचेतन प्रतीत होते हैं। किन्तु सभी गुणात्मक ईकाइयाँ स्वतंत्र है और सब अपने ढंग से विश्व को प्रतिबिम्बित करते हैं।

यहाँ पर एक समस्या उत्पन्न होती है कि सबमें अलग-अलग परिवर्तन होने से विश्व संस्थान में असंगति अथवा विषमता क्यों नहीं है ? लाइबनित्ज कहते हैं कि यह सांमजस्य पूर्व स्थापित है। देकार्त तथा अवसरवादी जगत को निष्क्रिय मानकर सभी परिवर्तनों के लिये ईश्वर पर निर्भर थे परन्तु लाइबनित्ज ऐसा न कर चिदबिंदुओं में एक नियमित स्वभाव की कल्पना करता है जो किन्ही नियमों के अनुसार वास्तविकता में निरन्तर परिणत होती है। यह स्वाभाविक नियमन ही पूर्व स्थापित सामंजस्य का आधार है।[6]

प्रत्येक चिदबिंदु का विश्व को प्रतिबिम्बित करना या एक व्यवस्थित पूर्ण का अपने आपको चिदबिंदु के माध्यम से व्यक्त करना अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति में एक ही सामान्य की पृथक - पृथक अभिव्यक्ति भी संगति का आधार है।

लाइबनित्ज जगत को रचित मानते हुये यौक्तिक जगत के साथ-साथ वस्तु जगत को वास्तविकता में स्थान देते हुये समस्त घटना चक्र को सत्य मानता है। इन सत्यों को कार्य कारण श्रृंखला के उद्घाटन से कभी भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता इनकी सत्यता का एक मात्र प्रमाण ईश्वर आधारित युक्ति है। अतः ईश्वर घटनाचक्र के अनियमित एवं अव्यवस्थित होने की कल्पना असगत है। अतः उसका सामंजस्य का विचार असंगत नही है।

इस प्रकार लाइबनित्ज ने मध्यम मार्ग अपनाकर ईश्वर तथा जगत के संबंध को व्याख्यायित किया है। समन्वयवाद के समर्थन में प्रस्तुत किये गये तर्कों से यह स्पष्ट होता है कि समन्वयवाद ही वह सिद्धान्त है जो मेरी इस शोध समस्या का सही हल प्रदान करता है और सर्वथा निर्दोष सिद्धान्त समन्वयवाद ही है।

साथ ही इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने का दो आधार है—

सैद्धान्तिक, व्यवहारिक

इस दृष्टिकोण को वेदान्त की अद्वैत दृष्टि का समर्थन प्राप्त है। यही इस अवधारणा का सैद्धान्तिक आधार है। वेदांत की अद्वैत दृष्टि यह है कि जो पिण्ड मे है वही ब्रह्माण्ड में है।

''यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे''

अर्थात् जो पिण्ड में है वही ब्रह्मांड में है। वेदान्तिक दृष्टि व्यष्टि और समष्टि के भेद को नहीं मानती है। अद्वैत वेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है—'' ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:'' अर्थात् ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। जगत् मिथ्या है तथा जीव और ब्रह्म में अभेद संबंध है। शंकर के अनुसार जीवन और ब्रह्म आपेक्षत: भिन्न है— परमार्थत: दोनों एक है। भेद अविद्या के कारण है और अविद्या के प्रहाणोपरान्त दोनों में कोई भेद नहीं है—

ज्ञातं द्वैत न विद्यते।

अर्थात् वेदान्त दृष्टिकोण एक ओर व्यक्ति (आत्म) को ''व्यष्टि'' के रूप में तथा दूसरी ओर व्यक्ति को ''सम्पूर्ण विश्व'' के रूप में प्रतिबिम्बित करता है।

इसी दृष्टिकोण के आधार पर स्वामी रामतीर्थ और विवेकानंद ने एक विराट व्यक्ति की कल्पना की और उस विराट व्यक्ति में सारा समाज समाहित है। भगवद् गीता के 16 वें अध्याय के 16वें श्लोक में इसका वर्णन है अर्जुन कहता है[8]—

''अनेक बाहूदर वक्त्रनेत्रं पश्यामित्वां सर्वतोऽनन्तरूपम।
नान्त न मध्य न पुनस्तवादि पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपं॥''

अर्थात् हे विश्वेश्वर, हे विश्वरूप! मै आपके शरीर में अनेकानेक हाथ, पेट, मुँह तथा आँखे देख रहा हूँ, जो सर्वत्र फैले है और जिनका अंत नहीं है। आपमें न अंत दीखता है, न मध्य और न आदि।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार भगवान श्री कृष्ण के उपदेश में यही अत्यंत शक्तिशाली और सारभूततत्व है[9]—

''सम सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्व विनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥''

''सम पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यामनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥''

अर्थात् जो सर्वभूतों में समान रूप से बसने वाले परमेश्वर को, नाशवान वस्तुओं में उस अविनाशी को देखता है वही यथार्थ में देखता है क्योंकि सर्वत्र वर्तमान परमेश्वर को एक समान देखते हुये वह अपना नाश आप ही नहीं करता और इस प्रकार परमगति को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् सर्वभूतों में, अन्तःस्थित एकत्व में विश्वास करने से सर्वहितों की प्राप्ति होती है। यही महान वेदान्तिक आदर्श है।

दूसरे शब्दों में अद्वैतवादी व्याख्या के अन्तर्गत समाज के मूल में एक चेतन तत्व विद्यमान है। मनुष्य एक आध्यात्मिक चेतन प्राणी है। और इसी के परिणाम स्वरूप विभिन्न संस्थाओं और व्यक्तियों के क्रिया-कलाप नियंत्रित होते हैं। मनुष्य का सामाजिक, राजनैतिक जीवन उसकी आत्मिक और बौद्धिक, मानसिक वृत्तियों द्वारा संचालित होता है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत समाज को प्राकृतिक संस्था माना गया है। न कि कृत्रिम संस्था। समाज मनुष्य का ही व्यापक रूप है। जिसमें मनुष्य अपनी नैतिक और आध्यात्मिक इच्छाओं व आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

व्यक्ति और मनुष्य के हितों में न तो कोई टकराव है और न ही कोई आधारभूत भेद है। ''व्यक्ति की समष्टि ही पूर्णता ही अभिव्यक्ति है।'' अद्वैतवाद के अनुसार संयमित स्वतंत्रता ही वास्तविक अर्थ में स्वतंत्रता है न कि स्वेच्छाचारिता या स्वच्छंदता। व्यक्ति अपने लक्ष्यों की प्राप्ति समाज में ही रहकर कर सकता है। समाज के प्रति समर्पित जीवन ही उच्च जीवन है।

इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने का **व्यवहारिक** आधार यह है कि किसी भी समाज को शांत और व्यवस्थित बनाये रखने के लिये समन्वय की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि यदि समन्वय न हो तो समाज का अस्तित्व संकट में पड़ जायेगा। उदा० के लिये- यदि किसी भी समाज में दो मुख्य वर्ग हों और हम उनमें से किसी एक वर्ग को ज्यादा महत्व दे तथा दूसरे को कम। तो दोनों वर्गों में आपस में संघर्ष होगा जिसका परिणाम हिंसा, आंतरिक विद्रोह के रूप में परिलक्षित होगा।यहाँ तक कि समाज के नष्ट होने की भी संभावना है। क्योंकि अति हर चीज की बुरी होती है। अत: समन्वय या संतुलन एक मूलभूत प्राकृतिक नियम है। प्रकृति भी किसी न किसी प्रकार अपना संतुलन बनाये रखती है और मनुष्य जहाँ कहीं भी इस संतुलन को नष्ट करने की कोशिश करता है या नष्ट करता है वहाँ-वहाॅ हमें विनाश दृष्टिगोचर होता है।

अतः समन्वयवादी सिद्धान्त को स्वीकार कर मैने कोई भूल नही की है क्योंकि यह सिद्धान्त अपने नाम के अनुरूप अपनी सार्थकता को सिद्ध करता है अर्थात् जगत की विविधता और अनेकता में एक ही परमतत्व की अभिव्यक्ति को मानना। और फिर **श्रीमदभगवद्गीता** जैसा महानतम प्राचीन ग्रंथ एव **वेदान्त दर्शन** जिसका प्रतिपादन करते हैं और **स्वामी रामतीर्थ** और **स्वामी विवेकानंद** जैसे दार्शनिक जिस मत का समर्थन करते हों, वह सुसंगत है। अतः इस सिद्धान्त को स्वीकार कर मैंने कोई भूल नहीं की है। इस प्रकार समन्वयवाद ही वह सिद्धान्त है जो मेरी शोध समस्या **'व्यक्ति और समाज का संबंध''** का निगमित निष्कर्ष है। व्यक्ति और समाज के बीच सुदंर समन्वयात्मक संबंध स्थापित करने के कारण मेरी दृष्टि में यह मत सबसे उचित है।

* सन्दर्भ ग्रन्थ सूची ?

1. एच. साध्यतिस्सा : बुद्धिस्ट एथिक्स, — पृ०- 33
2. सद्धर्म पुण्डरीकसूत्र, पृ०-143
3. सेबाइन — ''राजनीति दर्शन का इतिहास''
4 सेबाइन — ''राजनीति दर्शन का इतिहास''
5 लाइबनित्ज— ''चिदबिंदु विद्या तथा अन्य दार्शनिक कृतियॉ'' पृ०-25
6. लाइबनित्ज— ''चिदबिंदु विद्या तथा अन्य दार्शनिक कृतियाँ'' पृ०-34
7. लाइबनित्ज— ''चिदबिंदु विद्या तथा अन्य दार्शनिक कृतियाँ'' पृ०-40
8. श्रीमद्‌भगवदगीता — 16/16
9 श्रीमद्‌भगवदगीता — 13/27/28

* प्रकाशक का नाम, पता तथा प्रकाशन का वर्ष उल्लिखित नहीं

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अग्निपुराण, शुद्धिप्रतनामाध्याय्

ऋग्वेद

बृहदारण्यक उपनिषद्

छान्दोग्य उपनिषद्

श्रीमद्भागवद्गीता

मनुस्मृति

आर्शीवादम्, ए०डी० — राजनीति विज्ञान

आचार्य, नन्द किशोर (अनुवादक) — एम० एन० राय, प्रथम सस्करण, 1998

अरविंद, महर्षि — मानव से अतिमानव की ओर, श्री अरविंद आश्रम ट्रस्ट, 1985

अरविंद महर्षि — दिव्य जीवन (अनुवादक), प्रथम संस्करण- 15 अगस्त 1971, दिव्य जीवन साहित्य प्रकाशन, पांडिचेरी - 2

अरविंद महर्षि — लास्ट पोयम्स

गॉधी, महात्मा — हिन्द स्वराज्य, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी 126, हरिसन रोड, कलकत्ता, प्रथमबार वर्ष

प्रकाशक नाम पता?

गाँधी, महात्मा — गाँधी चिन्तन (अनुवादक, यशपाल जैन), 1970

गाँधी, महात्मा — अहिंसा और सत्य, अक्टूबर 1965, उत्तर प्रदेश गाँधी स्मारक निधि, ? सेवापुरी, वाराणसी

गाँधी, महात्मा — सत्याग्रह — 1967, उत्तर प्रदेश गाँधी स्मारकनिधि, सेवापुरी, वाराणसी।

जोड़, सी० ई० एम०— आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका - अनुवादक अंबादत्त पंत, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1957

नेहरू, जवाहर लाल— द डिस्कवरी आफ इंडिया

नरवणे, डा० विश्वनाथ— आधुनिक भारतीय चिंतन

दीपक, ओमप्रकाश — एक असमाप्त जीवन

डिलामेयर, वाल्टर — प्लेजर्स एण्ड स्पैक्युलेशन्स, 1940

भटनागर, डा० राजेन्द्र मोहन— डा० राममनोहर लोहिया

मैकाइवर और पेज — समाज (अनुवादक- जी० विश्वेश्वरय्या), पंचम सस्करण, 1998

रामतीर्थ, स्वामी— मानवता और विश्वप्रेम, 1971, अरविंद प्रकाशन 205, चावड़ी बाजार नई दिल्ली

राधाकृष्णन, डा० सर्वपल्ली— धर्म और समाज - सातवां संस्करण, 1975

राधाकृष्णन, डा० सर्वपल्ली— उद्देश्यपूर्ण जीवन, 1980, प्रथम संस्करण

राधाकृष्णन, डा० सर्वपल्ली— सत्य की खोज, 1980 सरस्वती बिहार, जी० टी० रोड, द्वितीय संस्करण

राधाकृष्णन, डा० सर्वपल्ली— स्वतंत्रता और संस्कृति. (अनुवादक- विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी), सन्मार्ग प्रकाशन, बैंग्लों रोड, दिल्ली, 1971

राजू, पी० टी०— दि प्रबुद्ध भारत, अगस्त 1957

लाइर्बानेत्ज— चिदबिंदुविद्या तथा अन्य दार्शनिक कृतियॉ

लोहिया, डा० राममनोहर— भारत में समाजवाद

लोहिया, डा० राममनोहर— सिविल नाफरमानी की व्यापकता

लोहिया, डा० राममनोहर— द्रष्टव्य : इतिहास चक्र

वर्मा, रजनीकांत — लोहिया और औरत

विवेकानंद, स्वामी— जाति, संस्कृति और समाजवाद- अगस्त, 1953

विवेकानंद, स्वामी— भारतीय व्याख्यान (अनुवाद- श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला), दि० 1993, रामकृष्ण मठ, नागपुर

विवेकानद, स्वामी— धर्मतत्व — अगस्त, 1965

विवेकानंद, स्वामी— मेरा जीवन तथा ध्येय, सितम्बर, 1957, तृतीय संस्करण श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर

विवेकानंद, स्वामी— मन की शक्तियाँ तथा जीवन गठन की साधनाएँ, दिसम्बर, 1968, रामकृष्ण आश्रम, नागपुर

सेबाइन, जार्ज०, एच०— राजनीति दर्शन का इतिहास

शेक्सपियर, विलियम— मेजर फार मेजर

सहायक पत्रिका — तिवारी, डा० जटाशंकर— समाज, धर्म एवं दर्शन — जुलाई–दिसम्बर 1997

Aristotle — Politics

Bosanquet, B — Deuteronomy

Bosanquet, Beranard — The philosphical theory of the state, London, 1899, chs-IX-X

Bosanquet, Beranard — Principle of western Civilization, London, 1902

B Kidd — Social evolution - Newed, New York, 1922

Burns, C D — Political Ideas

Brinton, Crane — The political Ideas of the english Romanticists — Oxford, 1933

Barker, Ernest— The Politics of Aristottle, Oxford, 1946

Brandt, Frithof— Thomas Hobbes, Mechanical conception of nature, London, 1928

Barker, Ernest — Political thought in England from Herbert spencer to the present day, London, 1915

Cole, G H D — Fabian Socialism, London, 1943

Dr Lohia — Marx, Gandhi & Socialism

Dr Lohia — Internal during politics

Edvin R A Seligman— Encyclopaedia of social sciences, vol 13-14

England E B— The Laws of Plato 2 vols, Manchester, 1921

Finer Herman— Mussolinis Italy, New York, 1935

Gilchrist R N — Principle of political science

George Rosen— Democracy and socialism by Arthur rosenberg, New York,1939

Hobhouse, Leonard T— The metaphysical theory of the state London, 1918

Hearnshaw F J C — The social & political Ideas of some great thinkers of the sixteenth & seventeenth centuries London, 1926

Hegel — Constitution of Germany, 1802

Hitler — My New order — New York — 1941

Hitler— Mein Kampf

Hegel — Philosophy of right

Hobbes— Leviathan

Hallowel, J H — The Decline of Liberalism as an Ideology, University of California publications in political science, 1943

Kenall, W — John Locke and the doctrine of Majority rule, Urbana, 1941

Lock, John— Of Civil Government, book II

Laski, H J — A Grammer of politics

Laski, H J — Karl Marx An Essay, London, 1922

Lindslay, A D — Karl Marx's capital . An Introductory essay London, 1925

Laski, H J — Political thought in England from lock to Bentham, London, 1920

Laird, John— Hobbes, London, 1934

Mill, J S — On Liberty-1959

Gegaro, Gaudens— Mussolini in the making, Boston, 1938

Mathews, Herbert L — The fruits of Rascism, New York, 1943

Marcuse, Herbert — Reason and Revolution Hegel and the rise of social theory, New York, 1941

Mead, George. H — Mind, self & society, chicago, 1934

Newman, W L – The politics of Aristotle, 4 vols, Oxford, 1946

Popper, R K — The open society and its enemies, 2 vols, London 1945, chs, 13-21

Piaget, Jean— Intellectual evolution in science & man

Roy, M N — Radical humanism— by R L Nigam- Indus Publishing Company, 1988

Roy, M N — Reason, Romanticism & Revolution